ओ३म्
आयुर्वेद
सिद्धान्त रहस्य
आचार्य बालकृष्ण

प्राक्कथन

विश्व की सभी संस्कृतियों में, भारत की संस्कृति न सिर्फ़ प्राचीन ही है बल्कि सर्वश्रेष्ठ और बेजोड़ भी है। हमारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूल स्रोत और आधार हैं वेद, जो कि मानव जाति के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेद चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। 'संसार का सबसे प्राचीन चिकित्सा एवं स्वास्थ्य संबंधी शास्त्र आयुर्वेद है जो कि अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है 'और यह पुस्तक, इस प्राचीनतम महानशास्त्र आयुर्वेद के सिद्धान्तों के रहस्यों के विषय में उपयोगी और प्रामाणिक जानकारी देने के लिए प्रस्तुत की जा रही है।

प्राचीन ऋषि मनीषियों ने आयुर्वेद को 'शाश्वत' कहा है और अपने इस कथन के समर्थन में तीन अकाट्य युक्तियां दी हैं यथा–

'सोयऽमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव नित्यत्वाच्च'

(चरक संहिता सूत्र. 30/26)

अर्थात् यह आयुर्वेद अनादि होने से, अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से और भावों के स्वभाव के नित्य होने से शाश्वत यानी अनादि अनन्त है। ऐसे शाश्वत शास्त्र आयुर्वेद को ब्रह्मा से प्रजापति ने अध्ययन किया, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, इनसे इन्द्र ने और इन्द्र से भारद्वाज ऋषि ने अध्ययन करके अन्य ऋषियों को आयुर्वेद का ज्ञान दिया जिनमें पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षार पाणि, सुश्रुत, धन्वन्तरि, वाग्भट आदि के नाम का उल्लेखनीय हैं।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पालन कर आत्मोन्नति करना और जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो कर प्रभु से मिलना, है और इन 'चारों पुरुषार्थ की सिद्धि व उपलब्धि का वास्तविक साधन और आधार है पूर्ण रूप से स्वस्थ शरीर' क्योंकि **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'** के अनुसार धर्म का पालन करने का साधन स्वस्थ शरीर ही है। शरीर स्वस्थ और निरोग हो तो ही व्यक्ति दिनचर्या का पालन विधिवत कर सकता है, दैनिक कार्य और श्रम कर सकता है, किसी सुख–साधन का उपभोग कर सकता है, कोई उद्यम या उद्योग करके धनोपार्जन कर सकता है, अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा कर सकती है, आत्मकल्याण के लिए साधना और ईश्वर की आराधना कर सकती है इसीलिए जो सात सुख बतलाये/कहे गये हैं उनमें पहला सुख निरोगी काया यानी स्वस्थ शरीर होना कहा गया है। आयुर्वेद भी यही कहता है यथा –

'धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'

(चरक संहिता सूत्र. 1/15)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल आधार स्वास्थ्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता के विषय में प्रश्न प्रस्तुत किया गया है– **'किमर्थमायुर्वेदः'** अर्थात् आयुर्वेद का प्रयोजन यानी उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया –

'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।'

(चरक संहिता सूत्र. 30/26)

यानी आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन अर्थात् उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आयुर्वेद का यह उद्देश्य, धन कमाने या यश प्राप्त कर वाह–वाही लूटने के लिए नहीं बनाया गया है बल्कि प्राणी मात्र के प्रति दया व करुणा की भावना रख कर बनाया गया यथा–

'धर्मार्थ चार्थ कामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्म परैरिच्छद्भिः
स्थानमक्षरम्।।

(चरक संहिता चिकित्सा 1–4/57)

अर्थात् धर्म कार्य में तत्पर और अक्षर पद प्राप्त करने की कामना करने वाले ऋषियों ने आयुर्वेद का प्रकाश धर्म पालन हेतु किया, धन कमाने या किसी विशिष्ट कामना की प्राप्ति के लिए नहीं। चिकित्सक की परिभाषा करते हुए इसीलिए आयुर्वेद ने कहा है–

'नाथार्थ नापि कामार्थमथ भूत दयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते।

(चरक संहिता चिकित्सा 1–4/58)

अर्थात् जो वैद्य धन या किसी विशिष्ट कामना को ध्यान में न रख कर, केवल प्राणिमात्र (रोगी) के प्रति दया–भाव रख कर ही कार्य करता है, वही वैद्य सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक होता है।

ऐसे श्रेष्ठ और उच्च आदर्श वाले नियम–सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र आयुर्वेद, विश्व का एकमात्र चिकित्सा शास्त्र है जो दवा इलाज से भी ज्यादा महत्त्व, पथ्य–अपथ्य के पालन करने को देता है और उस कारण को दूर करना चिकित्सा का पहला कदम बताता है जो रोग पैदा कर रहा हो यथा–

'संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्' अर्थात् रोग उत्पन्न करने वाले कारण का पहले त्याग करो। अपने प्रयोजन (उद्देश्य) को सिद्ध करने के लिए आयुर्वेद, स्वास्थ्य की रक्षा करने के उपाय भी बताता है और जिन कारणों से रोग उत्पन्न होता है, उन कारणों की भी जानकारी देता है।

स्वास्थ्य की रक्षा करने के उपाय बताते हुए आयुर्वेद कहता है–

'त्रय उपस्तम्भा इति– आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'

(चरक संहिता सूत्र. 11/35)

अर्थात् शरीर और स्वास्थ्य को स्थिर, सुदृढ़ और उत्तम बनाये रखने के लिए आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य– ये तीन उपस्तम्भ हैं। 'उप' यानी सहायक और 'स्तम्भ' यानी खम्भा। इन तीनों उप स्तम्भों का यथा विधि सेवन करने से ही शरीर और स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

इसी के साथ शरीर को बीमार करने वाले कारणों की भी चर्चा की गई है यथा–

'धी धृति स्मृति विभ्रष्टः कर्मयत् कुरुते ऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोष प्रकोपणम्।।'

(चरक संहिता शरीर. 1/102)

अर्थात् धी (बुद्धि), धृति (धैर्य) और स्मृति (स्मरण शक्ति) के भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य जब अशुभ कर्म करता है तब सभी शारीरिक और मानसिक दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इन अशुभ कर्मों को प्रज्ञापराध कहा जाता है। जो प्रज्ञापराध करेगा उसके शरीर और स्वास्थ्य की हानि होगी और वह रोग ग्रस्त हो ही जाएगा।

आयुर्वेद ने अपनी व्याख्या स्वयं करते हुए कहा है

'तदायुर्वेद यतीत्यायुर्वेदः'

(चरक संहिता सूत्र. 30/23)

अर्थात् जो आयु का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहा जाता है। और भी कहा है–

**'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।'**

(चरक संहिता सूत्र. 1/41)

अर्थात् जिस ग्रन्थ में हित आयु, अहित आयु, सुख आयु और दुःख आयु इन चार प्रकार की आयु के लिए हित (पथ्य), अहित (अपथ्य), इस आयु का मान (प्रमाण और अप्रमाण) और आयु का स्वरूप बताया गया हो, उसे आयुर्वेद कहा गया है। दरअसल आयुर्वेद, श्रेष्ठ व स्वस्थ जीवन–शैली का नाम है, जीवन के ज्ञान का नाम है और मनुष्य के जीवन (आयु) को स्वस्थ व सुखी बनाने वाले विज्ञान का नाम है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आयुर्वेद सिर्फ़ चिकित्सा विज्ञान और औषधियों या जड़ी बूटियों की जानकारी देने वाला शास्त्र ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जीवन का शास्त्र तथा जीवनदर्शन है। आतुर (रोगी) को स्वस्थ करने के लिए औषधियों का वर्णन है तो स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए दिनचर्या और ऋतु के अनुकूल ऋतुचर्या का वर्णन भी है जो वात पित्त कफ दोषों के आधार पर उचित और हितकारी आहार–विहार का विस्तृत विवरण देने वाला है। परस्पर विरोधी एवं सर्वथा असेवनीय पदार्थों का वर्णन है तो धारण करने योग्य वेगों का सूक्ष्म वर्णन भी किया गया है। वास्तिवक तथ्य यह है कि आयुर्वेद का आयाम इतना विशाल है कि इसके विषय को किसी सीमा में बांधा नहीं जा सकता। आयुर्वेद ने हरे पौधे, पत्ते, बीज, फल आदि को औषधि माना है। यथा –

**'अनेनोपदेशेन नानौषधि भूतं जगति किंचिद्
द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य।'**

(चरक संहिता सूत्र. 26/12)

अर्थात् इस संसार में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो औषधि न हो। भिन्न–भिन्न प्रयोजन के अनुसार प्रयोग करने पर प्रत्येक पदार्थ औषधि का काम करता है और प्रत्येक खनिज पदार्थ का शोधन करके औषधि के रूप में प्रयोग किया जा सकता है जो जीवन रक्षक सिद्ध हो सकता है। इसके साथ ही आयुर्वेद यह भी जानकारी देता है कि आहार–विहार, जल–वायु आदि का विधिपूर्वक सेवन करना प्राणदायक होता है, प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का बोध प्राप्त कर, जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष पद पाने का मार्गदर्शन करता है। हमारे ऋषि–मनीषियों द्वारा प्रस्तुत इस अद्भुत शास्त्र आयुर्वेद के मार्गदर्शन और उपदेशों का पालन करना सभी मनुष्यों के जीवन के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा इसमें कोई सन्देह नहीं इसलिए आज आवश्यकता है कि आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान का प्रचार–प्रसार विश्व के कोने कोने तक हो, नये नये अनुसन्धान और प्रयोग किये जाएं ताकि निरापद रूप से चिकित्सा की जा सके। आज भी देश में ऐसे योग्य चिकित्सक, परम्परागत रूप से काम कर रहे अनुभवी और कुशल वैद्य मौजूद हैं जो कष्ट साध्य तथा असाध्य समझे जाने वाले रोगों को भी दूर करने वाले सिद्ध हो रहे हैं परन्तु इन सबका परस्पर सम्पर्क व सहयोग न होने से विश्व स्तर पर आयुर्वेद के उपयोग की स्थिति नहीं बन पा रही है और न ही आयुर्वेद का

सही उपयोग हो पा रहा है।

हमने ब्रह्मकल्प चिकित्सालय की स्थापना की और इसके माध्यम से लाखों रोगियों तथा पीड़ितों की सेवा की है और आयुर्वेद के उपयोग से आशातीत सफलता प्राप्त की है। हमारी मान्यता है कि आधुनिक समय में किये जा रहे अनुसन्धानों और शोधकार्यों की उपलब्धियों और आयुर्वेद को जोड़ कर कार्य करना अति आवश्यक है। इस आवश्यकता को बड़ी गहराई से समझा परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज ने, जिनकी अध्यक्षता में दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) द्वारा वृहत योजना के अन्तर्गत आयुर्वेद द्वारा प्रस्तुत उपदेशों के आधार पर स्वस्थवृत्त, उचित दिनचर्या, आहार–विहार एवं आचार–विचार आदि विषयों से सम्बन्धित उपयोगी और हितकारी जानकारी को प्रचारित और प्रसारित किया जाएगा।

आज व्यक्ति प्रकृति से विमुख होता जा रहा है, अपनी चेतना से विमुख होता जा रहा है जिससे अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था यानी स्वास्थ्य से वंचित हो गया है। इसे पुनः स्वस्थ शरीर, शुद्ध मन और चेतना से भरपूर बना कर स्वस्थ रखने के लिए आयुर्वेद का मार्गदर्शन आवश्यक है क्योंकि आयुर्वेद मनुष्य को प्रकृति से और अपनी चेतना से जोड़ता है और श्रेष्ठ जीवन शैली का ज्ञान देता है। ऐसे आयुर्वेद के अद्भुत, सारगर्भित तथा अनुपम रहस्यों से परिचित कराने के लिए यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

इस पुस्तक को लिखने में वैद्य भगवान दास की शिष्या बहन कंचन का सहयोग मिला है जिन्होंने आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके सारगर्भित सामग्री का संग्रह किया है। उनका बहुत साधुवाद।

कम्प्यूटर पर कम्पोज़ होने के बाद, प्रूफ़ रीडिंग एवं आवश्यक संशोधन के लिए हमने इस पुस्तक को, निरोगधाम के प्रधान सम्पादक रसवैद्य डॉ प्रेमदत्तजी पाण्डेय के पास इन्दौर भेजा था। अत्यन्त व्यस्त दिनचर्या के बावजूद उन्होने यथा शीध्र प्रूफ़ रीडिंग और संशोधन करके पुस्तक भेज दी, यह उनके हार्दिक स्नेह और सक्रिय सहयोग का प्रमाण है। हम इस सहयोग के लिए श्री पाण्डेयजी को हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

लेखन कार्य में सहयोग करने वाले, आश्रम के सभी सहयोगियों, कनिष्ठ व वरिष्ठ चिकित्सकों को भी मैं धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूं, प्रभु सबको सेवा कार्य में और अधिक प्रवृति व अभिरुचि प्रदान करें। अन्त में, मै मेरे वरिष्ठ भ्राता परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज के प्रति नतमस्तक हो कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जो आश्रम के सेवा कार्यों में, मेरे लिए प्रेरणा के अहिर्निश स्रोत बने हुए हैं, मेरे प्रबल सहयोगी हैं और उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है जो मैं आज कुछ कर पा रहा हूं। मेरी सफलताएं और उपलब्धियां भी उन्हीं की तपस्या का प्रतिफल है। स्वामीजी आयुर्वेद के उन महान ऋषि–मुनियों के साकार स्वरूप हैं, वर्तमान युग में उनके प्रतिनिधि हैं जिनकी तपस्या से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव इस भूतल पर हुआ और प्रचार–प्रसार हुआ। मैं उन सभी महान ऋषि मुनियों व आचार्यों के प्रति नतमस्तक हूं जिन्होंने आयुर्वेद शास्त्र का रक्षण किया, पोषण किया और संवर्धन किया। उन सबके चरणों में प्रणाम करते हुए, उनकी परम्परा की वृद्धि व रक्षा करने के लिए, अध्यात्म, आयुर्वेद, योग तथा वैदिक संस्कृति के पथ के पथिक बनने का संकल्प ले कर हम सब आगे बढ़ रहे हैं और हमें सुदृढ़ विश्वास है कि इस पवित्र यज्ञ कार्य में हमें सबका आशीर्वाद और सहयोग प्राप्त होगा।

– आचार्य बालकृष्ण
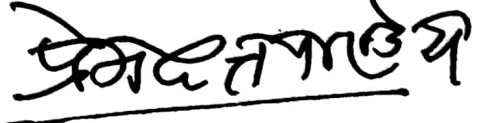
पुस्तक के प्रति दो शब्द

आचार्य श्री बालकृष्णजी ने जब फोन पर मुझको बताया कि उन्होंने **'आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य'** नामक एक पुस्तक लिखी है जिसे वे मेरे अवलोकन हेतु भेजना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि पुस्तक में कोई संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन करना चाहें तो अवश्य कर दें, साथ ही मैटर की प्रूफ़ रीडिंग करके भाषा के अशुद्ध शब्दों को शुद्ध करने का कष्ट भी करें। मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी यद्यपि मेरी दिनचर्या अत्यन्त व्यस्त रहती है तथापि परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज द्वारा संचालित किये जा रहे, महान क्रान्तिकारी यज्ञकार्य में मेरी हार्दिक रुचि रही है और निरोगधाम पत्रिका के माध्यम से मैं, उनके इस महान कार्य में, यथाशक्ति भरपूर सहयोग देता आ रहा हूं इसलिए मैंने इस गुरुतर दायित्व को स्वीकार करने में तनिक भी देर नहीं की और स्वामी रामदेवजी के दाहिने हाथ, दिव्य योग मन्दिर की गतिविधियों तथा कार्यक्रमों के प्रमुख संचालक और कर्ताधर्ता आचार्य श्री बालकृष्णजी का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार कर लिया।

पुस्तक प्राप्त होने पर, प्रूफ़ रीडिंग करते हुए मैं यह देख दंग रह गया कि इस पुस्तक को लिखने और इसमें प्रस्तुत की गई तथ्यपरक सामग्री जुटाने में आचार्यजी ने कितना घोर परिश्रम किया है। हर तथ्य और विवरण को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए आयुर्वेदिक ग्रन्थों के तत्सम्बन्धित श्लोक भी प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक पढ़ते हुए पाठक को व्यवधान का अनुभव न हो इस हेतु से श्लोक और सन्दर्भ ग्रन्थ के नाम, पृष्ठ के नीचे, फुट नोट के रूप में, अलग से प्रस्तुत किये गये हैं।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य के जीवन में काम आने वाली बातों को, अधिक से अधिक मात्रा में प्रस्तुत किया गया है और यह पुस्तक चूंकि आयुर्वेद पर आधारित है इसलिए आयुर्वेद के ढेर सारे सिद्धान्तों को इसमें युक्ति पूर्वक, बड़ी कुशलता से और प्रसंग के अनुकूल प्रस्तुत किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि भाषा सरल और सुबोध तथा शैली रोचक है इसलिए सामान्य व्यक्ति भी इस पुस्तक को पढ़ और समझ सकेगा। पुस्तक की विषय वस्तु, प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये गये आयुर्वेदिक श्लोक और उनकी सरल सुगम व्याख्या ने पुस्तक की उपयोगिता और महत्ता को कई गुना बढ़ा दिया है। मुझे विश्वास है कि आयुर्वेद के सिद्धान्तों और नियम क़ायदों से सुशोभित यह पुस्तक, देश के हर घर में पहुंचेगी, पढ़ी जाएगी और देशवासी इसका भरपूर लाभ उठाएंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि इस पुस्तक का देश–विदेश में भव्य स्वागत हो और इसके कई संस्करण प्रकाशित हों, शुभम् भवतु।

रसवैद्य डॉ. प्रेमदत्त पाण्डेय

प्रधान सम्पादक–निरोगधाम

विषय-सूची

अध्याय – 3

अध्याय – 4

अध्याय – 5

अध्याय – 6

परिचय

1. आयुर्वेद क्या है?[1]

प्रायः सभी ने अनुभव किया होगा कि इस विश्व में मनुष्य तो क्या तुच्छ से तुच्छ जीव भी सदा दुःखों से बचने की कोशिश करता है और सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।[1] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि जब से सृष्टि की रचना हुई है, तभी से मनुष्य भूख, प्यास, नींद, आदि स्वाभाविक इच्छाओं को पूरा करने एवं शारीरिक रोगों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इसी क्रम में सबसे पहले 'आयुर्वेद का उद्भव हुआ'। आजकल हम ऐलोपैथी, होम्योपैथी, नैचुरोपैथी (प्राकृतिक चिकित्सा), रेकी, आदि अनेकों प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों को प्रयोग करते हैं, परन्तु आयुर्वेदिक पद्धति हमारे दिलों में बसी हुई है। हम अपने रोजमर्रा के जीवन में ही देखते सुनते हैं कि किसी को पेट दर्द होने पर या गैस होने पर अजवायन, हींग आदि लेने को कहा जाता है, खाँसी जुकाम, गला खराब होने पर कहा जाता है कि ठण्डा पानी न पीओ, अदरख[2] तुलसी की चाय, तुलसी एवं काली मिर्च या शहद और अदरख का रस, अथवा दूध व हल्दी ले लो, आदि।[3] अमुक चीज की प्रकृति ठण्डी है या अमुक की गर्म-इस प्रकार के सभी निर्देश आयुर्वेद[3] के ही अंग हैं, जो हम अपने बुजुर्गों के द्वारा अपनी रसोई के सामान में से ही सीखते चले आ रहे हैं। हमें अपने घर के आँगन अथवा रसोई घर में से ही ऐसे अनेकों पदार्थ मिल जाते हैं, जिन्हें हम ज्यों का त्यों औषधि के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम इस आयुर्वेद पद्धति को अपने से अलग कर ही नहीं सकते।

---

1. "सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।।"
"स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतं। वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः।।"
चरक सू. 1/46-47

2. "प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं आतुरस्य विकारप्रशमनं च।।" च.सू. 30/26
"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं - व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च।।" सु.सू. 1/22

3. "सहस्रवेधि जतुकं बाहीकं हिंगु रामठम्। हिंगुष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासनुत्।।"
"शूलगुल्मोदरानाहकृमिघ्नं पित्तवर्धनम्। स्त्रीपुष्पजननं बल्यं मूर्च्छापस्मारहृत् परम्।।" भा.प्र.
"रोचनं दीपनं वृष्यं आर्द्रकं विश्वभेषजम्। वातश्लष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते।।" च.सू. 27/166
"नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु। वृष्योष्णं रोचनं सस्नेहं लघुदीपनम्।।" सु.सू. 46/226
"यवानी कटुतीक्ष्णोष्णा वातश्लेस्मद्विजामयान्।
हन्ति गुल्मोदरं शूलं दीपयत्याशु चानलम्।।" ध.नि.
"तुलसी लघुरूष्णा च रूक्षा कफविनाशिनी।
कृमिदोषं निहन्त्येषा रूचिकृत् बह्विदीपनी।।" ध.नि.

प्रश्न उठता है कि जो आयुर्वेद हमारे जीवन में इतना घर कर चुका है, वह वास्तव में है क्या? इसको समझने के लिए आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति को जानना होगा। यह शब्द 'आयुष्+वेद' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'आयुष्' का अर्थ है-'जीवन, तथा 'वेद' का अर्थ है-ज्ञानविज्ञान'।

इस प्रकार, आयुर्वेद शब्द का अर्थ हुआ-जीवन से सम्बन्धित विज्ञान।[4] साधारण भाषा में कहे तो जीवन को ठीक प्रकार से जीने की कला ही आयुर्वेद है क्योंकि यह विज्ञान केवल रोगों की चिकित्सा या रोगों का ही ज्ञान प्रदान नहीं करता, अपितु जीवन जीने के लिए सभी प्रकार के आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति कराता है। बहुत सीमित अर्थ में ही हम इसे एक चिकित्सा प्रणाली भी कह सकते हैं, क्योंकि यह स्वास्थ्य और रोग, दोनों के लिए व्यवस्थित और क्रमबद्ध ज्ञान भी प्रस्तुत करता है। वास्तव में यह विज्ञान मनुष्य ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही उनके शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सभी पक्षों पर प्रभाव डालता है।[5] महर्षि चरक ने 'चरक संहिता' नामक ग्रन्थ में आयुर्वेद की परिभाषा देते हुए भी कहा है - 'जो विज्ञान जीवन के हित अहित (भलाई बुराई), सुख दुख, अवधि एवं लक्षण (प्रकृति) का ज्ञान कराता है, वह आयुर्वेद है[6] इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद के ये सिद्धान्त किसी विशेष व्यक्ति, जाति या देश तक सीमित नहीं है, ये सार्वभौमिक (सभी जगह लागू होने वाले) हैं। जिस प्रकार जीवन सत्य है, उसी प्रकार ये सिद्धान्त और नियम भी सभी स्थानों पर मान्य और सत्य है अतः शाश्वत और सार्वभौमिक हैं।[7] इनमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' अर्थात 'सभी सुखी और निरोग हों' का भाव निहित है।

2. आयुर्वेद चिकित्सा की विशेषताएँ

आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा करते समय कुछ खास बातों पर ध्यान दिया जाता है तथा इस चिकित्सा प्रणाली में हमें कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। इन सबका सांकेतिक उल्लेख निम्नलिखित है:-

♦ एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की चिकित्सा

इस पद्धति के अनुसार चिकित्सा करते हुए वैद्य केवल रोगग्रस्त अंग अथवा केवल रोग के

---

4. ''आयुषो वेदः आयुर्वेदः। आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।।'' सु.सू. 1/23
''आयुः शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगः, तदस्मिनायुर्वेदे विद्यते ज्ञायते अनेनेति आयुर्वेदः।'' डल्हण

5. आयुः ''शरीरेन्द्रियसात्वात्म संयोगों धारि जीवितम'' च.सू. 1/42

6. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। च.सू. 1/41

7. ''सोयऽमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते। अनादित्वात्,
स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च।।'' च.सू. 30/26

लक्षणों को ही नहीं देखता बल्कि इनके साथ-साथ रोगी के मन, शारीरिक प्रकृति, आत्मा एवं वात, आदि दोषों, मलों और धातुओं (रक्त आदि) की स्थिति को भी ध्यान रखता है।[8] यही कारण है कि एक ही रोग होने पर भी अलग-अलग रोगियों की औषधियों में भिन्नता पाई जाती है।

♦ रोगों का मनो–दैहिक स्वरूप

आयुर्वेद के अनुसार यह मान्यता है कि कोई भी रोग केवल शारीरिक अथवा केवल मानसिक नहीं हो सकता। शारीरिक रोगों का कुप्रभाव मन पर पड़ता है, तो मानसिक रोगों का कुप्रभाव शरीर पर। अतः किसी भी रोग की चिकित्सा करते समय मन और शरीर, दोनों को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सभी रोगों को मनो-दैहिक (psycho-somatic) रोगों के रूप में मानकर ही चिकित्सा की जाती है क्योंकि आचार्य चरक के अनुसार वातज, पित्तज, कफज तथा मानसिक सभी रोगों का एक ही मूल कारण होता है-प्रज्ञापराध![9]

आयुर्वेदीय औषधियों के उपयोग के पीछे हमारे ऋषियों का सैकड़ों वर्षों का अनुभव है। इन औषधियों का मूल स्रोत वनस्पति जगत् (पेड़-पौधे), पशु जगत् से प्राप्त पदार्थ (गोमूत्र, गोदुग्ध, घी आदि) धातु, (metals) आदि प्राकृतिक पदार्थ हैं। इनमें किसी प्रकार के रासायनिक पदार्थों (chemicals) का प्रयोग नहीं किया जाता। अतः ये औषधियाँ हमारे शरीर पर किसी प्रकार का विषैला या बुरा प्रभाव नहीं डालती। आजकल एलोपैथिक चिकित्सक वर्ग, ताँबा, आदि धातुओं से तैयार इन औषधियों के प्रयोग में एक प्रकार का भय दिखाते हैं, परन्तु औषधियों में इन धातुओं एवं कुछ विषैले वानस्पतिक पदार्थों (कुचला, भिलावा, आक आदि) का प्रयोग सीधा इसी रूप में नहीं कर लिया जाता। औषधियों के रूप में प्रयोग करने से पहले अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से इन पदार्थों के विषैले प्रभाव को दूर किया जाता है तथा उन्हें इस योग्य बना लिया जाता है कि वे हमारे शरीर के सभी धातुओं में आसानी से घुल मिल जायें। इस प्रकार ये सब पदार्थ हानिकारक न होकर अधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं।[10]

♦ प्रत्येक औषधि एक रसायन का रूप

प्रत्येक आयुर्वेदीय औषधि अपने आप में एक टॉनिक अथवा रसायन का कार्य करती है, क्योंकि ये किसी न किसी रूप में मन एवं शरीर को पोषण प्रदान करती है। यही कारण है कि इन औषधियों का प्रयोग रोगी के साथ-साथ

---

8. ''दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।'' — सु.सू. 15/3
9. ''सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः, परस्परमनुबन्धन्ति, न चान्योन्येन् सह सन्देहमापद्यन्ते।।'' — च.सू. 20/6
- ''ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषदयश्च ये। मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वेप्रज्ञापराधजाः।।'' — च.सू. 7/52

स्वस्थ व्यक्ति भी कर सकता है। क्योंकि जहाँ ये रोगी के रोग को दूर करती है, वहीं स्वस्थ व्यक्ति का पोषण भी करती है और रोग प्रतिरोधी शक्ति का विकास करती है।'च्यवनप्राश'[11], 'चन्द्रप्रभा वटी'[12] आदि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

---

10. ''हालाहलः कालकूटः श्रृङ्गकश्च प्रदीपनः।
सौराष्ट्रिको ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा।।
वत्सनाभ इतिज्ञेया विषभेदा नव।'' र.त. 24/7-8

* ''लांगली विषमुष्टिश्च करवीरो जया तथा।
नीलकः कनकोऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकाः।।'' र.र.स. 10/84

* ''ये दुर्गुणा विषेऽशुद्धे ते स्युर्हीना विशोधिते।
तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधितं योजयेद्भिषक्।।'' आ.प्र. 6/47-48

* ''रसकर्मणि शस्तोऽयं तद्बन्धनविधावपि।
अयुक्त्या सेवितश्चायं मारयत्येव निश्चितम्।।'' र.र.स. 10/83

* ''रसे रसायनादौ च वत्सनाभः प्रशस्यते।'' र.त. 24/7-8

* ''विषतिन्दुकबीजं तु प्रत्यहं परिशीतलम्।
निहन्ति कुक्कुरविषं खलु मासैकमात्रतः।।'' र.त. 24/230

11. च्यवनप्राशः ''लेहं वह्निबलं दृष्ट्वा खादेत् क्षीणो रसायनम्।
बालवृद्धक्षतक्षीणा नारीक्षीणाश्च शोषिणः।।''
हृदोगिणः स्वरक्षीणा ये नरास्तेषु युच्यते।
कासं श्वासं पिपासां च वातस्रमुरसो ग्रहम्।।
वातपित्तं शुक्रदोषं मूत्रदोषं च नाशयेत्।
मेधा स्मृतिं स्त्रीषु हर्ष कान्ति वर्णप्रसन्नताम्।।
अस्य प्रयोगादाप्नोति नरो जीर्णविवर्जितः।'' शा.म.ख. 8/19-21

12. चन्द्रप्रभावटीः 'चद्रप्रभेति विख्याता सर्वरोगप्रणाशिनी।
प्रमेहान् विंशति कृच्छ्रं मूत्राघातं तथाश्मरीम्।।
विबन्धाऽऽनाहशूलानि मेहनं ग्रन्थिमर्बुदं।
अन्त्रवृद्धिं कटिशूलं श्वास कासं विचर्चिकाम्।।
अण्डवृद्धि' तथा पाण्डु कमलां च हलीमकम्।
कुष्ठान्यर्शांसि कण्डूं च प्लीहोदरभगन्दरम्।।
दन्तरोगं नेत्ररोगं स्त्रीणामार्तवजां रूजम्।
पुंसा शुक्रगतान् दोषान् मन्दाग्निमरूचिं तथा।।
वायु पित्तं कफं हन्याद् बल्या वृष्या रसायनी।
चन्द्रप्रभाणां कर्षस्तु चतुःशाणो विधीयते।।'' शा.म.रज. 7/45-49

♦ रोग प्रतिरोधी औषधियों व पथ्य पर महत्त्व

इस पद्धति में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि व्यक्ति में रोग प्रतिरोधी शक्ति का विकास हो, जिससे उस पर रोग का आक्रमण ही न हो। यही कारण है कि स्वस्थ व्यक्ति के लिए आहार संहिता[13] (भोजन से सम्बन्धित नियम, आदि), आचार संहिता (विभिन्न ऋतुओं, दिन-रात आदि में आहार-विहार सम्बन्धित आचरण) आदि का वर्णन किया गया है।

♦ पथ्याहार एवं सात्म्य महत्त्व

आयुर्वेद में उन भोज्य एवं पेय पदार्थों के सेवन पर अधिक बल दिया गया है, जो रोगी की प्रकृति एवं स्वास्थ्य के अनुकूल हों तथा जो रोग को दूर करने में सहायक हों।[14] इसके विपरीत, उन पदार्थों के सेवन का निषेध किया है, जो रोगी की प्रकृति के अनुकूल न पड़ते हो तथा रोग को बढ़ाने वाले हो। इससे जहाँ स्वस्थ व्यक्ति रोगों के आक्रमण से बचा रहता है, वहीं रोगी का रोग शीघ्र दूर हो जाता है।

♦ निदान के सरल व सस्ते उपाय

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में तब तक रोग की चिकित्सा प्रारम्भ ही नहीं हो पाती, जब तक अनेक प्रकार के परीक्षण न करवा लिए जाएं। इससे जहाँ रोगी को शारीरिक एवं मानसिक परेशानी होती है, वहीं धन का भी बहुत व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत, आयुर्वेदिक पद्धति में तो एक कुशल वैद्य केवल नाड़ी, आदि का परीक्षण करके ही रोग का निदान कर लेता है, जिससे अनावश्यक शारीरिक-मानसिक परेशानियों व व्यय से बचा जा सकता है।[15]

---

13. ''आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवा:।'' — **चरक सूत्र 28/45**

आहार- संहिता -

14. ''पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः।।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्ज च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्।।''

15. दर्शनस्पर्शन प्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदान प्राग्पलक्षणोपशयाप्तिभि:।।'' — **अ.सं.सू. 1/45**

अण्टविध परीक्षा -
रोगाक्रान्तः शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत।
नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दं स्पर्श दृगाकृति:।।'' — **योग रत्नाकर**

षड्विध परीक्षा -
षड्विधा हि रोगाणां विज्ञानोपाय: - पञ्चभि: श्रोत्रादिभि: प्रश्नेन चेति। — **सु.सू. 10/4**

दशविध परीक्षा -
तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वातश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशतिश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेष ग्रहण हेतो: ।। — **चरक विमान 8/94**

♦ रोग का जड़ से उन्मूलन

इस पद्धति के माध्यम से इस प्रकार से उपचार किया जाता है, जिससे रोग के मूल कारण को ही नष्ट कर दिया जाए। केवल रोग के लक्षणों को दूर करके ही रोगी को आराम नहीं पहुंचाया जाता। जब रोग का कारण ही नष्ट हो जाता है, तो रोग सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

♦ प्राचीन परम्परा का संरक्षण

आयुर्वेदीय चिकित्सा से हमारे ऋषियों की सहस्रों वर्ष पुरानी धरोहर सुरक्षित है। अतः हम अपनी संस्कृति का संरक्षण इस आयुर्वेदिक चिकित्सा के माध्यम से कर सकते हैं।

♦ औषधियों की सरलतापूर्वक उपलब्धि एवं कृत्रिमता से दूरी

चूंकि अनेक आयुर्वेदीय औषधियाँ हमारी रसोई और घर के बगीचे में ही उपलब्ध हो जाती है, अतः उनको प्राप्त करना सरल है। इसके अतिरिक्त इनके लिए हमें प्रकृति से जुड़ना पड़ता है। अतः कृत्रिम जीवन से दूर रहते हैं।

♦ विदेशी मुद्रा की बचत

अपने देश की अर्थव्यवस्था की दृष्टि से भी इन औषधियों का प्रयोग लाभकारी है। क्योंकि ये सभी औषधियाँ अपने ही देश में उपलब्ध हो जाती है, अतः इनको विदेशों से मँगवाने के लिए विदेशी मुद्रा को खर्च नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत, विदेशों में इनका प्रचलन होने के कारण विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

♦ योग व धर्म की पूरक

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आयुर्वेद वस्तुतः जीवन जीने का ज्ञान प्रदान करता है, अतः इसे हम अपने धर्म से अलग नहीं कर सकते। इसका उद्‌देश्य भी जीवन के उद्‌देश्य की भांति चार पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति ही है।[16] आयुर्वेद में बताये गये नियम और सिद्धान्त योग के अभ्यास में भी सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रणाली अपने आप में सबसे भिन्न और हमारी जीवन पद्धति के अनुरूप है। इसे हम अपने से पृथक् नहीं कर सकते।

3. आयुर्वेद का विषय क्षेत्र

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है–आयुर्वेद का सम्बन्ध केवल मनुष्यों से नहीं, अपितु प्राणी मात्र के हित से है। अतः इसमें मनुष्यों के अतिरिक्त पशु जगत् से और यहाँ तक कि वृक्षों से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। अलग अलग सन्तों और ऋषियों ने इन सब पर अलग अलग ग्रन्थ भी लिखे, जो अश्वायुर्वेद (घोड़े से सम्बन्धित) गजायुर्वेद (हाथीसे

---

16. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगस्तस्यापहर्तार: श्रेयसो जीवितस्य च।।'
चरक सू. 1/15-16

सम्बद्ध) गवायुर्वेद (गौ से सम्बद्ध) तथा वृक्षायुर्वेद (वृक्षों से सम्बद्ध) के नाम से जाने जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयुर्वेद का विषय क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस विज्ञान में जहाँ कष्टसाध्य एवं असाध्य माने जाने वाले रोगों की विवेकपूर्ण चिकित्सा का वर्णन है वहीं इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि सामान्य मनुष्य अपने स्वास्थ्य को बनाए रखे और रोगों के आक्रमण से बचा रहे।[17,18] इसके लिए बहुत विस्तार से 'स्वस्थवृत्त' अर्थात् मनुष्य को दिन रात एवं विभिन्न ऋतुओं में किस प्रकार के खान-पान और आचार विचार का सेवन करना चाहिए और किससे बचना चाहिए - का वर्णन किया गया है।[19] प्राकृतिक आवश्यकता (भूख, प्यास आदि) की पूर्ति किस प्रकार की जाए तथा प्राकृतिक रोगों (जैसे - वृद्धावस्था में होने वाली तकलीफों) से किस प्रकार बचा जाए का भी इसमें विस्तृत विवरण है।

आयुर्वेद के व्यापक विषयों को आठ भागों में बाँटा गया है, जिन्हें आयुर्वेद की आठ शाखाएँ कहा जाता है। ये निम्नलिखित हैं[20]:

- **काय चिकित्सा** : औषधि सेवन द्वारा शरीर के भीतर के रोगों की चिकित्सा (Medicine)[21];
- **शल्य चिकित्सा** : सामान्य या गम्भीर रोगों की विशेष उपकरणों द्वारा या चीर-फाड़ द्वारा चिकित्सा (surgery)[22];
- **शालाक्य चिकित्सा** : सिर एवं गर्दन से सम्बन्धित रोगों की विधि इसमें आंख, कान, नाक, मुख, कण्ठ, आदि के रोग आ जाते है।[23]

---

17. "साध्यासाध्य विभागज्ञो ज्ञानपूर्व चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्।।" — च.सू. 10/7

18. प्रयोजनं चास्य (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। — चरक सू. 30/26
"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं .... स्वस्थस्य रक्षणं च।" — सु.सू. 1/13

19. "आहार मात्रा पुनराग्निबलापेक्षिणी।" — चरक सूत्र 5/3
"ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किंचत।
तस्या शितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च।।" — चरक सूत्र 6/51

20. "कायवालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्य बाल दंष्ट्रा जरा वृषैः।" — अ.सं.सू. 1/10
तद्यथा - शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूत विद्या,
कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्र मिति।। — सु.सू. 1/6

21. कायचिकित्सानाम सर्वाङ्ग संश्रितानां व्याधीनां ज्वर रक्त पित्त
शोषोन्मादपस्मार कुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्। — सु.सू. 1/3

22. "शल्यं नाम विविधतृणकाण्ठपाषाण पांशुलोहलो-ष्टास्थिवालनखपूयास्रावदुण्टव्रणान्तर्गर्भ
शल्याद्धरणार्थ यन्त्र क्षारग्निप्रणिधानव्रण विनिश्चयार्थश्च।" — सु.सू. 1/9

23. शालाक्य नामोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनवदन घ्राणादिसंश्रिताना व्याधिनामुपशमनार्थम्,
शलाकायन्त्रप्राणीधानार्य। — सु.सू. 1/2

- **अगद तन्त्र** : विष से होने वाले रोगों की चिकित्सा (toxicology)[24]
- **भूत विद्या** : मानसिक रोगों एवं ग्रहों से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा (psychatric management, management of mental disorders);[25]
- **बाल तन्त्र** : कौमार भृत्य अर्थात नवजात शिशुओं और बच्चों में होने वाले रोगों की चिकित्सा (Pediatrics);[26]
- **रसायन तन्त्र** : शरीर को पुष्ट करने और वृद्धावस्था के विकारों से बचने के लिए चिकित्सा अथवा कायाकल्प चिकित्सा (rejuvenation therapy);[27]
- **वाजीकरण तन्त्र** : शुक्र वृद्धि के लिए तथा शुक्र से सम्बन्धित रोगों कि चिकित्सा (Science of aphrodisiac)[28]

इन सभी शाखाओं पर ऋषि-मुनियों ने अलग-अलग ग्रन्थ विस्तार से लिखे और प्राचीन काल में इन सभी प्रकार की चिकित्साओं का प्रचलन भी था। परन्तु मध्यकाल की प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव इन पर पड़ा। अनेकों ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये। कश्यप ऋषि के निर्देश में बाल रोगों पर विशेष निपुणता हासिल हुई। सुश्रुत ऋषि शल्य चिकित्सा में सिद्धहस्त थे, उनकी 'सुश्रुत संहिता' आज भी उपलब्ध है। उस समय शल्य (surgery) बहुत उन्नत अवस्था में थी। सिजेरियन ऑपरेशन द्वारा प्रसव, चर्म प्रतिरोपण या प्लास्टिक सर्जरी का विस्तृत विवरण मिलता है। 'प्लास्टिक सर्जरी' का जनक तो सुश्रुत को ही माना जाता है। भगन्दर, दिमाग का ट्यूमर आदि जैसे कठिन ऑपरेशन भी उस समय प्रचलित थे परन्तु बौद्ध धर्म की अहिंसा वृत्ति से उस समय इस पद्धति पर बुरा प्रभाव पड़ा और धीरे धीरे इसका प्रचलन बन्द हो गया क्योंकि ऐसा माना जाता था कि चीर फाड़, आदि से कष्ट अधिक होता है अर्थात हिंसा अधिक होती है। इसका कुप्रभाव दूसरी शाखा पर भी पड़ा और उनका प्रयोग भी कम हो गया। अब केवल 'काय-चिकित्सा', 'रसायन चिकित्सा' और 'वाजीकरण तन्त्र' इन तीन शाखाओं का ही प्रचलन है। अन्य शाखाएँ प्राय: लुप्त हो गयी है।

---

24. ''अंगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूता मूषिकादिदण्टविषव्यजनार्थ विविधविषसंयोगोपशमनार्थ च।'' सु.सू. 1/14
25. भूतविद्यानामदेवासुरगन्धर्वयक्षरक्षपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृण्टचेतसांशान्तिकर्मवलि हरणादिग्रहोप शमनार्थम्।। सु.सू. 1/12
26. कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थदुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानांच व्याधीनामुपशमनार्थम्।। सु.सू. 1/13
27. रसायनतन्त्रं नाम वय:स्थायनमायुर्मेधावलकरं रोगापहरणसमर्थश्च। सु.सू. 1/15
28. वाजीकरण तन्त्रं नामाल्पदुण्टक्षीणविशुष्करेत सामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तंप्तहर्षजननार्थश्च। सु.सू. 1/16

आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त

1. पांच महाभूत और आयुर्वेद

विश्व के सभी विद्वानों की मान्यता है कि 'वेद' प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और आयुर्वेद का उद्‌भव इन्हीं वेदों से माना गया है। इसे 'अथर्ववेद' का उपवेद माना जाता है।[29] वैसे चारों वेदों में ही चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। अनेकों औषधियों और वनस्पतियों के अतिरिक्त त्रिदोष (वायु, पित्त, कफ), सात धातुओं (रस, रक्त आदि), पाचनक्रिया तथा चयापचय के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख भी इनमें मिलता है।[30] इसी प्रकार के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन भी हम वेदों में पाते हैं। इसी तरह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त हमारे दर्शन शास्त्रों की विचारधारा से मेल खाते हैं। विशेष रूप से सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा से। जिस प्रकार सांख्य और योग दर्शन सारे जड़ और चेतन जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल (अप्) और पृथ्वी) के सम्मिश्रण से मानते है, उसी प्रकार आयुर्वेद भी शरीर और शरीर के मूल आधारों -दोष, धातु, मल की उत्पत्ति इन्हीं पाँच महाभूतों से ही मानता है[31]। यद्यपि एक पदार्थ में ये पाँचों महाभूत विद्यमान होते है, तो भी किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है। इस प्रधानता के आधार पर ही आकाश महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय, वायु महाभूत की प्रधानता वाले वायव्य, तेज या अग्निं महाभूत की प्रधानता वाले आग्नेय, जल की प्रधानता वाले आप्य एवं पृथ्वी महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य पार्थिव कहलाते है। इनकी पहचान के लिए संक्षेप में इनकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है :

- **आकाशीय द्रव्य** : मुलायम, हलके, सूक्ष्म, समतल तथा शब्द गुण से युक्त होते है। इनके सेवन से शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता और छिद्रों की अधिकता होती है।[32]
- **वायव्य द्रव्य** : हलके, शीतल, रूखे, खुरदरे, चिपचिपे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं। इन पदार्थो के सेवन से शरीर में खुरदरापन, घृणा वृत्ति, गति, चिपचिपापन एवं फुर्तीलापन आता है।[33]

---

29. "इह खल्वायुर्वेदनामुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्येव प्रज्ञाः।" — सु.सू. 1/6
30. "आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातु संक्षेय।।" — अ.हृ.चि. 10/91
31. "पञ्चभूतात्म के देहे आहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान स्वान भिवर्धयेत।।" — सु.सू. 46/526
32. "मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्ण शब्दगुण बहुलान्याकाशात्मकानि।
तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि।।" — च.सू. 26/11
33. "श्लक्ष्णं मसृणम्। व्यवामीति समस्तदेहं व्याप्त पश्चात पाकं गच्छति विषमवद्यवत्।" — डल्हण

- **तैजस द्रव्य** : गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हलके, रूक्ष, अचिपचिपे तथा रूप के गुणों से युक्त होते है। इनके सेवन से शरीर में जलन, चयापचय शक्ति, पाचन शक्ति, तेज, चमक एवं रंग की वृद्धि होती है।[34]
- **आप्य या जलीय द्रव्य** : तरल, स्निग्ध, ठण्डे, कोमल, चिपचिपापन, स्निग्धता, दृढ़ता, नमी, कोमलता तथा आनन्द की वृद्धि होती है।[35]
- **पार्थिव द्रव्य** : भारी, दृढ़, सख्त, स्थूल, अचिपचिपे, ठोस और गन्ध से पूर्ण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वज़न एवं स्थूलता में वृद्धि होती है।[36]

इन पंचभौतिक द्रव्यों के गुणों और शरीर की रचना को देखते हुए स्पष्ट होता है कि शरीर में मुख्यत: **पृथ्वी** और **जल** – ये दो महाभूत विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी से तथा द्रव भाग जल से बना है। खाली भाग मुख्य रूप से आकाश से और आंशिक रूप से वायु से बना है।[37] जो भोजन आदि पदार्थ हम खाते है उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि आदिधातुओं में परिवर्तित करने का काम 'अग्नि' महाभूत करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ 'वायु' महाभूत के कारण सम्पन्न होती हैं।

शरीर में विद्यमान तीन **दोष** (वायु, पित्त, कफ), **धातु** (रस, रक्त, आदि), तथा **मल** भी पाँच महाभूतों के मिश्रण से बने हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्यों से शरीर का पोषण होता है, वे खाद्य पेय पदार्थ और औषध द्रव्य भी इन पाँच महाभूतों से ही बनते हैं। इन्हें हम द्रव्यों के **रस** (taste), **गुण** (attributes), **वीर्य** (potency), **विपाक** (taste after digestion), आदि के आधार पर पहचान सकते है। किस दोष आदि में कौन-कौन सा महाभूत विद्यमान होता है, इसका विवेचन दोष, आदि का वर्णन करते हुए किया जाएगा। यहाँ इतना जान लेना उपयोगी रहेगा कि हमारे शरीर में जिस जिस महाभूत वाले तत्त्व (दोष, धातु, मल आदि) की कमी या वृद्धि हो जाए, तो उस महाभूत वाले द्रव्य या पदार्थ का क्रमशः अधिक या कम सेवन किया जाना चाहिए इससे उस महाभूत का सन्तुलन बना रहेगा।

---

34. "उष्णतीक्ष्ण सूक्ष्मलघु रूक्षविषदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि।" च.सू. 26/11
* दहनं भस्मसात्करणम्। पचनमाहारदिपाकः। दारणं व्रणादेः।
पातनं शरीरादि संतापनम्। प्रकाशनमभिव्यक्तिः। प्रभा तेजः। वर्णो गौरादिः। डल्हण

35. शीतस्तिभितास्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं
रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुरसप्रायमाप्यम्। सु.सू. 41/5
बन्धनं परस्यरयोजनम्। प्रहलादः शरीरेन्द्रिय तर्पणम्। चक्रपाणि

36. "तत्र द्रव्याणि गुरुखर कठिनमन्दस्थिर विशदसान्द्रस्थूल गन्ध गुणबहुलानि पार्थिवानि।" च.सू. 26/11

37. तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। सु.सू. 42/5
वाय्वाखाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयंपित्तम्। अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा। अ.सं.सू. 20/3

2. त्रिदोष सिद्धान्त

आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए जब हम किसी वैद्य के समीप जाते है, तो हमें कहा जाता है कि शरीर में वायु बढ़ी हुई है, पित्त बढ़ा हुआ है, या कफ बढ़ा हुआ है परन्तु हम समझ नहीं पाते कि ये वायु, आदि तत्त्व हैं क्या ? आइए, हम इनका परिचय प्राप्त करते है।[38]

हमारे शरीर का निर्माण दोष, धातु और मल : इन तीन तत्त्वों के मेल से हुआ है।[39] अर्थात शरीर में जितने भी तत्त्व पाये जाते है, वे सब इन तीनों में ही अन्तर्निहित हैं। इनमें दोषों का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ये शरीर में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ये दोष संख्या में तीन हैं - 1. वायु, 2. पित्त और 3. कफ अतः त्रिदोष कहलाते हैं।[40] ये दोष ही शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण, अथवा शरीर के स्तम्भ माने जाते हैं। वैसे तो शुक्र और शोणित के संयोग से शरीर का जन्म माना जाता है,[41] परन्तु इन तीनों दोषों के सहयोग के बिना शरीर की उत्पत्ति सम्भव नही है। इसके पश्चात् शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने और रोगों को समझने एवं उनकी चिकित्सा के लिए भी इन त्रिदोषों को समझना बहुत आवश्यक है। क्योंकि शरीर की भौतिक, रसायनिक और वैज्ञानिक सभी क्रियाओं का नियमन भी ये दोष ही करते है। जब ये दोष अपनी सामान्य स्थिति या साम्य अवस्था में होते है, तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखते है, परन्तु जब इनकी सामान्य अवस्था में किसी प्रकार का विकार या असन्तुलन (वृद्धि या कमी) आ जाता है, तो स्वास्थ्य भी असंतुलित हो जाती है[42] तथा कोई न कोई रोग जन्म ले लेता है। ये दोष सम अवस्था में होते हैं, तो धातु और मल भी साम्यावस्था में रहते हैं परन्तु जब दोषों की स्थिति गड़बड़ा जाती है तो धातु और मल की अवस्था भी गड़बड़ हो जाती है, जिससे रोग जन्म लेते हैं। चूंकि ये वायु, पित्त और कफ

---

38. '' स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान बहून्।।
तस्माद्विकार प्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
समुत्थान विशेषांश्च बद्ध्वा कर्म समाचरेत्।।
यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्।'' — च.सू. 18/45-47

39. दोषधातु मलमूलं हि शरीरम्।। — सु.सू. 15/3
दोषधातुमलामूलं-सदा देहस्य।। — अ.हृ.सू. 11/1

40. वायु पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। — च.सू. 1/57
वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयोदोषाः समासतः।। — अ.हृ.सू. 1/6

41. ''शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृति विकार संमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते।। — सु.शा. 5/3

42. ''रोगस्तु दोष वैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।'' — अ.सं.सू. 1/43

स्वयं दूषित होकर (अर्थात वृद्धि, प्रकोप या क्षय को प्राप्त होकर) विकार रहित धातुओं और मलों को भी दूषित करते और शरीर में रोग उत्पन्न करते है, अतः इन्हें दोष कहा जाता है।[43]

इन दोषों के दूषित होने के दो कारण है (I) इनके प्रमाण में अधिकता जिसे वृद्धि कहते है, तथा (II) प्रमाण में कमी जिसे क्षय कहा जाता है। वैसे रोग की उत्पत्ति का मुख्य कारण तो किसी दोष में वृद्धि होना ही है क्योंकि जो दोष स्वयं ही क्षय (कमी) की अवस्था में होगा, उसमें स्वतः रोग उत्पन्न करने का बल ही नहीं होगा। हाँ, किसी दोष की क्षीणता आने से उसके स्वाभाविक गुण कर्म भी क्षीण (न्यून) रूप से ही कार्य करेंगे अर्थात पूरी तरह से अपना कार्य नहीं कर पाएंगे। दूसरे, जब किसी एक दोष में कमी होगी, तो उसके विरोधी गुणों में वृद्धि हो जाएगी, जिससे उस गुण वाले दोष में वृद्धि हो जाएगी। परिणामतः उससे सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो जाएंगे।[44] क्योंकि जब किसी दोष में वृद्धि होती है, तो वह दोष अपने आश्रय स्थान से विपरीत मार्ग में जाकर वहाँ के धातु, आदि को दूषित कर देता है जिससे रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए तीनों दोषों का सम अवस्था में होना अत्यावश्यक है क्योंकि तभी वे अपना-अपना कार्य सुचारू रूप से करके शरीर को धारण कर पाते है[45]

जिस प्रकार मन का प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त है, उसी प्रकार ये तीनों दोष भी सारे शरीर में व्याप्त हैं।[46] मन तो बालों, नाखूनों और अन्य मल पदार्थो में नहीं पहुंच पाता, परन्तु ये दोष इन मल पदार्थो में भी उपस्थित रहते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण तीनों दोषों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

♦ वायु या वात

यह तीनों दोषों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 'वायु' या 'वात' शब्द 'वा' धातु से बना है, जिसके अनुसार जो तत्व शरीर में गति या उत्साह उत्पन्न करें, वह 'वायु' या 'वात' कहलाता है।[47] इस प्रकार शरीर में सभी प्रकार

---

43. ''रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत्।।'' — अ.सं.सू. 1/32

44. ''उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धि क्षयावपि।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।।'' — अ.सं.सू. 1/24
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत्।। — अ.सं.सू. 1/32

45. समपित्तनिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः कैचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।।
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः
दोषानुशयिता ह्येषां देह प्रकृतिरुच्यते।। — च.सू. 7/39-40

46. ''वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीर चराणां सर्वाणिस्रोतांस्ययन भूतानि।'' — च.वि. 5/6
''वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।'' — च.चि. 28/59

की गतियाँ इसी वायु के कारण होती है। यह मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने अपने विषयों और कर्मों में नियुक्त करता है। शरीर की पाचक अग्नि और धात्वग्नियों को भी यही प्रदीप्त करता है। हमारे शरीर में जो विभिन्न स्रोत है उनके छोटे बड़े विवरों (खाली स्थानों) का निर्माण यह वायु करती है। रस, रक्त आदि प्रत्येक धातु की सूक्ष्म व स्थूल रचना, तथा शरीर के एक अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध का कारण भी यह वायु है। इसी के कारण गर्भ में स्थित भ्रूण का विकास व उसके आकार का निर्माण हो पाता है। नाड़ी मण्डल (Nervous System) की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण इसी वायु के अधीन है। वायु के बिना तो दूसरे दोनों दोष-पित्त और कफ - भी पंगु के समान निष्क्रिय है क्योंकि यह इन दोषों तथा मलों को अपने-अपने स्थान पर स्थिर रखता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्यत्र पहुंचाता है।[48] इस प्रकार मल, मूत्र, स्वेद आदि मलों को शरीर से बाहर निकालने वाला यह वायु दोष ही है। जब यह वायु अपनी साम्य अवस्था में रहता है, तो सभी दोषों, धातुओं और मलों को भी सम अवस्था में रखता है परन्तु जब यह दूषित या कुपित हो जाए, तो सभी दोषों, धातुओं, मलों और स्रोतों को भी दूषित कर देता है क्योंकि गतिशील होने के कारण यह किसी भी दोष को दूसरे स्थान पर पहुंचा देता है, जिससे उस स्थान पर पहले से ही विद्यमान दोष में वृद्धि हो जाती है और रोग उत्पन्न हो जाता है।[49]

इस प्रकार शरीर में सभी प्रकार के रोगों का मूल कारण इसी वायु का प्रकुपित होना ही है। जहाँ सामान्य दशा में वायु दोषों और दूष्यों (धातु, मलों, उपधातुओं) को अलग-अलग रखता है, वहीं कुपित होने पर इनको आपस में संयुक्त कर देता है, जिससे रोग उत्पन्न हो जाते है।[50]

वायु में एक गुण है - **योगवाहिता** अर्थात अन्य दोषों के संयोग से उनके गुणों को धारण करना। इस प्रकार, जब यह पित्त दोष के साथ मिलता है, तो उसमें दाह, उष्णता आदि पित्त के गुण आ जाते है, और जब कफ के साथ मिलता है, तो उसमें शीतलता क्लेदता (गीलापन), आदि गुण आ जाते है।[51] यह वायु स्थान और कर्म के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है - 1. प्राण

---

47. "सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते।।" — च.सू. 17/118

48. पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्तिमेघावत्।। — शा.पू. 5/25

49. सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायत्ते तेन चैवोपरुध्यते।। — च.सू. 17/118

50. दौष त्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
वात पित्त कफा देहे सर्वस्रोताऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।।
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।
करोति।। — च.चि. 28/59-60

2. उदान 3. समान 4. अपान और 5. व्यान।[52]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वायु का योगदान होता है परन्तु केवल वायु के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले **नानात्मज रोग** संख्या में 80 माने गये हैं। इनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

♦ पित्त

पित्त शब्द 'तप्' धातु से बना है- 'तपति इति पित्तम्' अर्थात् जो तत्व शरीर में ताप (दाह) या गर्मी, (उष्णता) उत्पन्न करता है, वह पित्त कहलाता है।[53] यह शरीर में उत्पन्न होने वाले पाचक रसों (enzymes) और हार्मोन्स (hormones) का नियमन करता है। हम जो कुछ भी खाते-पीते या श्वास के रूप में वायु का ग्रहण करते हैं, उन्हें शरीर के तत्वों (दोषों, धातुओं अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा दोषों अर्थात् मल, मूत्र, पसीना आदि) के रूप में ढालने का कार्य यह 'पित्त' ही करता है। वैसे पित्त और अग्नि दोनों भिन्न-भिन्न तत्व है, तो भी शरीर में अग्नि का प्रतिनिधित्व यह पित्त ही करता है। अर्थात् अग्नि के समान ही यह शरीर के तापमान को बनाये रखता है, भोजन का पाचन करता है, रक्त, त्वचा आदि को रंग प्रदान करता है, रूप का ग्रहण और प्रकाशन करता है, हृदय में एकत्र श्लेष्मा को दूर करता है, मालिश आदि करने से त्वचा में जो स्निग्धता आती है उसका ग्रहण भी यह पित्त करता है। इसके अतिरिक्त मानसिक कार्यों, जैसे-मेधा, शौर्य, साहस, हर्ष आदि का संचालन भी यह दोष ही करता है।[54]

जब पित्त अपनी सम अवस्था में नहीं होता तो भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता, पाचक-अग्नि मन्द (कमज़ोर) हो जाती है जिससे कफज भाव की अभिवृद्धि होती है। इसके कारण उत्साह में कमी हो जाती है, तथा हृदय, फेफड़ों आदि में कफ इकट्ठा होने लगता है।

स्थान और कर्म के भेद से पित्त भी निम्नलिखित पाँच प्रकार का माना गया है: 1. पाचक पित्त, 2. रञ्जक पित्त, 3. साधक पित्त, 4. आलोचक पित्त, 5. भ्राजक पित्त।[55]

---

51. योगवाह परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत सोमसंश्रयात्।। — च.चि. 3/38
योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवहः।
परमितिअत्यर्थम्।। — चक्रपाणि चरक चि.के. तीसर अध्याय में

52. "प्राणोदानसमानाव्यानापानैः" स पञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याह्तश्चरन्।।" — च.चि. 28/5

53. पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः।। — अ.हृ.सू. 12/51
उष्मा पित्ताहते नास्ति।। — अ.हृ.सू. 1/16

54. तदुक्तं क्रोधशोक श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते।। — सु.नि. 13-36
बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्। साधकंहृदगतंपित्तं।। — अ.हृ.सू. 12/13

केवल पित्त के प्रकोप से होने वाले नानात्मज रोगों की संख्या 40 मानी गई है। इसकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

♦ कफ या श्लेष्मा

'कफ' शब्द का अर्थ है- जो जल से उत्पन्न होता है (केनजलेन फलति निष्पद्यते इति कफ:) तथा 'श्लेष्मा' का अर्थ है- जो संयोग करता है या मिलता है (श्लिष्यति इति श्लेष्मा)[56]। यह दोष शरीर के सभी अंगों का पोषण करता है तथा दोनों दोषों वायु और पित्त को नियमित करता है। शरीर को स्निग्धता (चिकनाहट) और आर्द्रता (गीलापन) प्रदान करना, सन्धियों (हड्डियों के जोड़ों) को आपस में मिलाना। वृद्धि, काम-शक्ति, बल, उत्साह, घावों का भरना, रोगों के आक्रमण को रोकने की शक्ति, मानसिक और शारीरिक श्रम करने की क्षमता, क्षमा, धैर्य, ज्ञान, विवेक, मानसिक स्थिरता आदि सभी कार्य और गुण कफ के अधीन है।[57] यदि शरीर में पित्त की गर्मी और वायु का रूखापन बढ़ जाए, तो 'कफ' दोष ही स्निग्ध (चिकने) स्रावों की मात्रा बढ़ा कर ऊतकों (tissues) की रक्षा करता है। हमारी नींद का प्रमुख कारण इस कफ में उपस्थित तमोभाव ही है।

यदि किसी कारणवश शरीर में कफ की मात्रा में कमी आ जाए, तो उसके विरोधी दोषों- पित्त और वायु - की वृद्धि हो जाती है। इससे पित्त धातुओं का शोषण करने लगता है, जिससे कोषों के बीच (छिद्रता होने से) वायु एकत्र होने लगती है। इसी प्रकार, सन्धियों, हृदय व शरीर के दूसरे अंगों में भी वायु का प्रकोप होने लगता है जबकि सम अवस्था में यही कफ शरीर के कोषों को पुष्टि प्रदान करके उनमें छिद्रता नहीं रहने देता, जिससे वायु का संचार नहीं हो पाता।

अपने आश्रय स्थान और कार्यो के आधार पर कफ दोष के भी पाँच भेद माने गये है- 1.क्लेदक, 2.अवलम्बक, 3.बोधक, 4.तर्पक, और 5.श्लेषक।[58]

दोष और पंच महाभूत

अन्य पदार्थो की तरह वायु, आदि दोषों की संरचना भी पाँच महाभूतों से ही हुई है। विभिन्न दोषों में प्रधान महाभूतों का उल्लेख निम्नलिखित है:[59]

---

55. अत: परं पञ्चधा विभज्यन्ते पित्तस्य।
यकृतप्लीहानौहृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च।। सू.सू. 21/7

56. केन जलेन निण्यद्यते इति कफ।

57. "स्नेहो बन्ध: स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोमश्च कफकर्मविकारजम्।।" च.सू. 18/51
अ.सं.सू. 20/6

58. "अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्कत्वभेदै: श्लेष्मा।"

59. वाय्वाकाशधातुभ्यां वायु:। आग्नेयं पित्तम्।
अम्भ: पृथिवीभ्यां श्लेष्मा।। अ.सं.सू. 20/3

दोष	प्रमुख महाभूत
1. वायु	आकाश, वायु
2. पित्त	अग्नि या तेजस्, जल या अप्
3. कफ	जल या अप्, पृथ्वी

दोषों का आश्रय स्थान

पहले बताया जा चुका है कि तीनों दोष सामान्यरूप से सारे शरीर में व्याप्त रहते है परन्तु सभी अंगों में कोई एक दोष मुख्य रूप से रहता है[60]

दोष	आश्रय स्थान
वायु	नाभि से नीचे का भाग, बस्ति छोटी व बड़ी आंतें, कमर, जंघाएं, टाँगें एवं हड्डियाँ।
पित्त	छाती व नाभि का मध्य भाग, स्वेद (पसीना), लसीका, रक्त एवं उदर।
कफ	कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, शिर, गर्दन, छाती, सन्धि (हड्डियों के जोड़) उदर का ऊपरी भाग एवं शरीर की मेद धातु।

♦ दोष और ऋतुएँ

वायु, आदि तीनों दोष स्वाभाविक रूप से ही सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहते। अपने ही गुणों के अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव इन पर पड़ता है। इसी कारण अलग-अलग ऋतुओं में, एक ही दिन के अलग-अलग भागों, शरीर की विभिन्न स्थितियों और यहाँ तक कि मानसिक दशा का प्रभाव इन पर पड़ता है और इनकी दशा में परिवर्तन आ जाता है।इस आधार पर दोषों की तीन दशाएँ मानी गई है- 1. चय या संचय अर्थात् अपने आश्रय स्थान पर ही एकत्र हो जाना, 2. प्रकोप-अनुकूल गुणों को

60. तत्र पक्वाशयः कटिः सक्थिडनी पादावास्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वात स्थानानि। अत्र च पक्वाशयो विशेषेण। नाभिरामाशयस्वेदो लसीका रुधिरं चक्षुः स्पर्शनं च पित्त स्थानानि। अत्र नाभिर्विशेषेण। उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण। अ.सं.सू. 20/3

पाकर प्रकुपित होना अर्थात् अपने आश्रय-स्थान से फैल जाना और 3. प्रशमन-प्रतिकूल या विपरीत गुणों या आहार-विहार के सेवन से शान्त हो जाना और अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाना।[61] वैसे तो अपथ्य और प्रतिकूल खान-पान या बिना किसी अपथ्य आदि के भी ये दोष निम्नलिखित तालिका में उल्लिखित ऋतुओं और वय (आयु), रात तथा भोजन से सम्बन्धित समयों में अपने आप ही संचित, प्रकुपित और शान्त होते रहते हैं। अतः इनको सम अवस्था में बनाये रखने के लिए विभिन्न ऋतुओं में विशेष प्रकार की सावधानियाँ बरतने और विशेष खान-पान आदि का प्रयोग करने के लिए कहा गया है।

♦ दोष और पाचक अग्नि

अग्नि भोजन को पचाने का कार्य करती है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ प्रसंगवश इतना बताना आवश्यक है कि दोषों के कारण अग्नि की तीव्रता में भी परिवर्तन आ जाता है। जैसे-

दोष	अग्नि की स्थिति
वायु	विषम (कभी तीव्र और कभी मन्द)
पित्त	तीक्ष्ण या तीव्र
कफ	मन्द या धीमी
समवायु, पित्त और कफ	सम अग्नि[62]

♦ दोष और कोष्ठ

यह देखा जाता है कि कुछ लोगों को मल बहुत आसानी से आ जाता है और क़ब्ज़ होने पर बहुत हलकी सी औषधि, यहाँ तक कि दूध से भी विरेचन हो जाता है जबकि कुछ लोगों को मध्यम प्रकार की औषधि (न बहुत हलकी और न बहुत तेज़) से विरेचन होता है, तो कुछ लोगों को बहुत बहुत तेज़ प्रभाव वाली औषधि लेनी

---

61. ''चयोवृद्धि:स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता।।'' अ.सं.सू. 20/9

62. ''तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः,
वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्न्याः,
पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णाः भवन्त्यग्न्यः,
श्लेष्मलानां-श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः।।'' चरक विमान 6/12

क्र. सं.	स्त्रोत का नाम व कार्य	उत्पति मूल	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
1.	प्राणवह स्रोतस् (जीवन-शक्ति व प्राण का वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व भोजन प्रणाली	क्षय, स्वाभाविक वेगों को दबाना, रूखे भोजन का अधिक सेवन, भूखे पेट व्यायाम।	रुकावट के साथ उथले रूप में व तेज गति से श्वसन क्रिया का होना। दमा रोग इसी के सम्बद्ध है।	श्वसन-सम्बन्धी रोगों (जैसे-दमा आदि) के समान चिकित्सा।
2.	उदकवह स्रोतस् (जल व द्रव तालू, क्लोम पदार्थो को वहन करने वाले स्रोतस्)	तालू, क्लोम	अधिक गर्मी व लू लगना, अपच, शराब का अधिक सेवन अत्यन्त रूक्ष भोजन का सेवन, अधिक प्यासा रहना।	तालू ओष्ठ, जिह्वा व कण्ठ का सूखना।	तृष्णा या अधिक प्यास की चिकित्सा
3.	अन्नवह स्रोतस् (मुख से ग्रहण किये गये अन्न को वहन करने वाले स्रोतस्)	आमाशय, बायाँ भाग	असमय में व अधिक मात्रा में भोजन करना, अपथ्य आहार का सेवन, मन्दाग्नि।	भूख का नष्ट होना, (अरुचि) अपच, उल्टी	आमदोष या अपच आदि के लिए बताई गई चिकित्सा
4.	रसवह स्रोतस् (आहार रस, लसीका आदि वहन करने वाले स्रोतस्)	हृदय व हृदय से सम्बन्धित दस वाहिनियाँ	चिन्ता एवं अत्यन्त भारी, शीत व अधिक स्निग्ध भोजन का सेवन।	अरुचि, जी मिचलाना भारीपन, तन्द्रा, बेहोशी, रक्ताल्पता, नपुंसकता।	लंघन चिकित्सा या उपवास आदि
5.	रक्तवह स्रोतस् (रक्त को विशेषत : हीमाग्लोबिन अंश का वहन करने वाले स्रोतस्)	यकृत, प्लीहा	तीखे, उष्ण व स्निग्ध भोजन का सेवन, धूप व आग का अधिक सेवन।	चमड़ी के भयानक रोग रक्त स्राव, व्रण, गुदा एवं जननांगों में सूजन	रक्त-मोक्षण (शरीर के रोग वाले भाग से रक्त निकलवाना।
6.	मांसवह स्रोतस् (मांस तन्तुओं के तत्वों को ले जाने वाले स्रोत)	कण्डराएँ त्वचा, अस्थिबन्ध का तन्तु (स्नायु)	भोजन के तुरन्त बाद सोना, बार-बार अधिक मात्रा में तथा गुरु व ठोस भोजन का सेवन।	अर्बुद, मांसार्बुद, अर्श, तालूशोथ, गलगण्ड, तुण्डीकेरी अन्य अर्बुद आदि (जिनमें कैंसर का अर्बुद भी हो सकता है।)	शल्य चिकित्सा, (चीर-फाड़ आदि) क्षार-कर्म तथा दहन क्रिया (जलाने की क्रिया)
7.	मेदोवह स्रोतस्	गुर्दे	दिन में सोना, व्यायाम	मूत्र-सम्बन्धी	अपतर्पण

63. स शीताभ्रप्रवातेषु धर्मान्ते च विशेषतः।
प्रत्यूषस्यपराह्ण च जीर्णऽन्ने च प्रकुप्यति।। — सु.सू. 21/20

तत्त वर्षास्वोषधयस्तरूण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षिति मलप्रायाः। — सु.सू. 6/11

''तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः।
मध्यान्हे चार्धरात्रे च जीर्यन्यन्ने च कुप्यति।।'' — सु.सू. 21/22

''ता एवौषधयः काल परिणामात् परिणतवीर्या वलवत्यो
हेमन्त भवन्त्यापश्च प्रशान्ताः स्निग्धाः अत्यर्थ गुर्व्यश्च।।'' — सु.सू. 6/11

''स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः।
पूर्वाह्ने च प्रदोषु च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति।।'' — सु.सू. 21/24

पड़ती है तब जाकर उन्हें विरेचन होता है। ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः मृदु कोष्ठ, मध्यम कोष्ठ और क्रूर कोष्ठ कहलाती है। कोष्ठ की इन अवस्थाओं का सम्बन्ध भी दोषों से है, जो इस प्रकार है:[64]

दोष	कोष्ठ
वायु	क्रूर
पित्त	मृदु
कफ	मध्यम
समान वायु, पित्त और कफ	मध्यम

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ दोष बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होते है, वहीं इनका प्रभाव शरीर के विभिन्न तत्वों और क्रियाओं पर भी पड़ता है। इनका यह प्रभाव इनके (दोषों के) गुण-कर्मो के कारण ही होता है। दोषों को सम अवस्था में बनाये रखने के लिए किस प्रकार के आहार-विहार का सेवन किया जाए और किसका न किया जाए, इसके लिए प्रत्येक दोष के गुण-कर्मो, क्षय, वृद्धि आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में ये तीनों दोष पाये जाते है, परन्तु कोई एक दोष या दो दोष प्रधान रूप से पाये जाते है, उस प्रधान दोष के गुणों के आधार पर ही उसके शरीर और स्वभाव आदि का निर्माण होता है। यदि दो दोष प्रधानता से पाये जाते है तो दोनों दोषों के संयुक्त गुणों के आधार पर उसके शरीर और स्वभाव का निर्माण होता है।[65] अतः व्यक्ति के शरीर की बनावट और स्वभाव आदि के आधार पर वैद्य निश्चय कर लेता है कि उस व्यक्ति के अन्दर कौन से दोष की प्रधानता है और कौन सा क्षीण है और उसे किस प्रकार की औषधियाँ, आहार विहार आदि के सेवन का निर्देश दिया जाना चाहिए। अब वायु आदि दोषों के गुण, उनका व्यक्ति पर प्रभाव, कुपित व क्षय अवस्था में उसके गुणों आदि का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

64. ''तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः।
कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।।'' — अ.सं.सू. 1/26

- ''तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते,
बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्य,
समदोषो मध्यमः स साधारण इति''। — सु.चि. 33/20

65. प्रकृतिः ''शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कृटः।
प्रकृतिर्जायते तेन।।'' — सु.शा. 4/63

* ''कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका भवन्तीति तन्त्रान्तरे
शुक्रशोणितगतदोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः।। — च.वि. 8/95
''प्रकृति जन्मभृति वृद्धो वातादिः।।'' — चक्रपाणि

3. वायु या वात – स्वाभाविक गुण

वायु रूक्ष, शीतल, लघु, चंचल, सूक्ष्म, विशद (चिपचिपाहट से रहित) और खर (खुरदराहट से युक्त) होती है।[66] ये रूक्षता आदि वायु के स्वाभाविक गुण हैं। जब वायु सम अवस्था में होती है तो, इन गुणों का अनुभव नहीं हो पाता है अपितु उत्साह, श्वास लेना और छोड़ना आदि कर्मों से ही वायु की उपस्थिति का पता चलता है। जब वायु प्रकुपित होती है तभी रूक्षता आदि लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं।

	व्यक्ति पर प्रभाव
1. रूक्षता[67]	शरीर में रूक्षता, कृशता (दुबलापन), बौनापन, आवाज़ अटकी हुई, शुष्क, धीमी, क्षुब्ध एवं भारी तथा नींद की कमी।
2. लघुता[68]	शरीर में हलकापन, चाल, गति, भोजन-ग्रहण और वेग (speed) में लड़खड़ाहट।
3. चंचलता[69] (सरता)	सन्धियों की गति, आँखों, भौंहों, ठोड़ी के जोड़, होंठ, जीभ, सिर, कन्धे, हाथ व टाँगों में अस्थिरता।
4. शीघ्रगामिता	निर्णय लेने में शीघ्रता, जल्दी क्रोधित होना व चिढ़ जाना, विकारों और रोगों की शीघ्र उत्पत्ति, शीघ्र डर जाना, किसी पदार्थ को शीघ्र पसन्द करना और शीघ्र ही नापसन्द कर देना, बात को जल्दी समझ कर जल्दी ही भूल जाना।
5. शीतलता[70]	शीतल पदार्थों को सहन न कर सकना, शीत-रोगों से जल्दी प्रभावित हो जाना, शरीर में कम्पन व जकड़ाहट की अधिकता।
6. खरत्व (खुरदरापन)[71]	सिर के बालों, चेहरे व शरीर के अन्य अंगों (नाखून, दाँत, मुख तथा हाथ-पैरों) का रूखापन और खुरदरापन।
7. विशदता (अचिपचिपाहट)[72]	फैलाने व मोड़ने पर सन्धियों से कट्-कट् की आवाज़ आना, अंगों की त्वचा का फटना और इनमें फड़फड़ाहट।
8. बहुलता (आधिक्य)	अधिक बोलना, शरीर में कण्डराओं और शिराओं की उभारों की अधिकता या उभरा होना।

♦ प्रकुपित वायु के लक्षण

जब शरीर में वायु प्रकुपित हो जाती है, तो उससे शुष्कता, रूखापन अंगों व शरीर में जकड़ाहट, सुई की चुभन जैसा दर्द, सन्धि-शैथिल्य (हड्डियों के जोड़ों में ढ़ीलापन) सन्धि-च्युति (हड्डी का खिसकना), हड्डी का टूटना, कठोरता, अंगों में कार्य करने की अशक्ति, अंगों में कम्पन व अस्वाभाविक गति से अंगों का सुन्न पड़ना, शीतलता, कमज़ोरी, कब्ज, शूल (तेज पीड़ा), नाखून, दांतों और त्वचा के रंग का कुछ काला या फीका पड़ना, मुख का स्वाद कसैला या फीका होना आदि लक्षण प्रकट होते है।[73]

वायु का मूल स्थान पक्वाशय (आँत) है। अन्न का मल भाग जब पक्वाशय में पहुँचता है, तो वायु उत्पन्न होती है, जो दूषित या प्रकुपित वायु ही होती है।

♦ वायु के प्रकुपित होने के कारण

वेगरोधक अर्थात् मल-मूत्र, छींक आदि स्वाभाविक इच्छाओं को दबा कर रखना, खाये हुए भोजन

---

66 "तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।"
"उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम्।।" — च.सू. 18/49

* "आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधान गुदालयः।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध में ।।"

67. "यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः।" — हेमाद्रि
- "रूक्षं समीरणकरं परम् कफघ्नं मतम्।" — भावप्रकाश

68. "लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कपुहनं शीघ्रपाकि च।" — भावप्रकाश
- "लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा।" — सु.सू. 46

69. "यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः।" — हेमाद्रि
- सरस्तेषां प्रवर्तकः।" — भा.प्र.

70. "स्तम्भने हिमः।" — हेमाद्रि
- "ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।" — सु.सू. 46

71. "यस्य लेखने शक्तिः स खरः।" — हेमाद्रि
"कर्कशत्वं वायव्यः — र.वै.अ.2 सू. 60

72. "यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः।" — हेमाद्रि
"विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः।" — सु.सू. 46
"क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः।" — भा. प्र.

73. कार्श्यकार्ष्ण्योंगात्रकम्पस्फुरणणोष्णकामितासंज्ञानिद्रानाशवलेन्द्रियोपघातास्थिशूलमज्जाशोषमल सङ्गध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिर्भिर्वृद्धोवायु:पीडयति। — अ.हृ.सू. 11/6
संङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः।।
खञ्ज्यप ङ्गुल्य कुब्जत्वं शोषोऽङ्गानाम निद्रता। — च.चि. 28/20-21

के पचने से पहले ही फिर कुछ खा लेना, रात को देर तक जागते रहना, ऊँचा बोलना, अपनी शक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक श्रम करना, लम्बी यात्रा के समय वाहन में धक्के लगना, रूखे, तीते (तिक्त), कड़वे और कसैले खाद्य-पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, सूखे मेवे अधिक खाना, बहुत अधिक चिन्ता करना, मानसिक परेशानी में रहना, अधिक सम्भोग करना, डरना, उपवास रखना, अधिक मात्रा में खाना तथा अधिक ठण्डा खाना, इन सब कारणों से शरीर में वायु दोष प्रकुपित हो जाता है। वर्षा ऋतु में तो इन कारणों के बिना भी वायु का प्रकोप स्वाभाविक रूप से हो जाता है। वात-प्रकृति वाले लोगों में तो बहुत अल्प कारणों से ही वायु का प्रकोप हो जाता है।[74]

♦ प्रकुपित वायु का उपचार

जिन कारणों से वायु का प्रकोप होता है, उन कारणों को दूर करने तथा उनके विरोधी खान-पान, औषधियों और साधनों का प्रयोग करने से वायु शान्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त वायु के जो अपने गुण-कर्म हैं, उनसे विपरीत (उल्टी) चिकित्सा करनी चाहिए। इस दृष्टि से निम्नलिखित उपायों का प्रयोग करना चाहिए।[75]

1. स्नेहन अर्थात् स्नेह पदार्थो (घी, तेल, वसा, मज्जा) का सेवन। उष्ण जल से स्नान करना तथा बस्ति या एनिमा देना।
2. स्वेदन या सेक (गर्म जल से तथा वायुनाशक औषधियों के काढ़े से स्नान व अवगाहन (काढ़े आदि में बैठना) एवं अन्य गर्म पदार्थो का प्रयोग करके पसीना लाना।
3. मृदु विरेचन अर्थात् स्निग्ध, उष्ण तथा मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे) तथा लवण (नमकीन) रस वाले, द्रव्यों से तैयार औषधि से हलका विरेचन कराना, जिससे मल बाहर निकल जाए।
4. रोग वाले अंगों पर पुल्टिस व पट्टी (कपड़े से) बाँधना, पादाघात अर्थात् पैर से दबाव, वातनाशक द्रव्यों का नस्य लेना नस्य (नाक में डाल कर ऊपर की ओर खींचना), उनका उबटन मलना, स्नान, संवाहन (हाथ से दबाना) और मालिश करना।
5. वायुहर औषधियों के काढ़े की धारा सिर पर डालना। (शिरोधारा परिषेक)
6. इन्हीं औषधियों से तैयार मदिरा व आसव आदि पिलाना।
7. पाचक, दीपक (पाचक अग्नि को तेज़ करने वाली), उत्तेजक (stimulant) वायु को शान्त करने वाली तथा विरेचक (मल को बाहर निकालने वाली) औषधियों से पकाये गये घी, तेल आदि स्नेह पदार्थो का प्रयोग

---

74. वेग संधारणादामादभिघाताद भोजनात्।। — च.चि. 28/17
तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातप्लवनतरणरात्रि जागरणभारहरण ....। — सु.सू. 21/19
तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। — च.वि. 6/16

75. रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः। विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारूतः संप्रशाम्यति।। — च.सू. 1/59

करना, (खाना, पीना, मालिश आदि करना)।

8. गेंहूँ और गुड़ से तैयार खाद्य-पदार्थों का सेवन।
9. स्निग्ध और उष्ण औषधियों से तैयार अनेक प्रकार के एनिमा का प्रयोग और
10. रोग व परिस्थिति के अनुसार मानसिक उपचार जैसे- रोगी को डराना, एकदम चौकाना तथा विस्मरण करवाना (जिस किसी विशेष घटना से रोगी परेशान हुआ हो, उसे भुलाने की कोशिश करना)।

स्निग्ध द्रव्यों में वायु की शान्ति के लिए तेल सबसे अधिक श्रेष्ठ है।[76] तिल का तेल और मांसाहारी लोगों के लिए मांस, मांसरस तथा वसा (fat) युक्त मांस तथा अनुवासन बस्ति (एक प्रकार का एनिमा) विशेष रूप से लाभकारी है। जैसा कि पहले कहा गया है, वायु मूल स्थान पक्वाशय (बड़ी आँत) है, अतः इसे शान्त करने के लिए तो निरूह और अनुवासन बस्तियाँ (एनिमा के दो प्रकार) सबसे उत्तम उपाय है क्योंकि यह एनिमा पक्वाशय में जल्दी प्रवेश कर सभी दूषित पदार्थों को बाहर निकाल देता है, जिससे वायु का प्रशमन हो जाता है।[77]

♦ वायु–क्षय के लक्षण और उपचार

यदि शरीर में वायु का क्षय (कमी) हो जाए, तो शरीर की विभिन्न क्रियाओं में कमी, बोलने में असमर्थता, हर्ष की कमी, अंगों में शिथिलता, ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त न कर सकना, वायु के स्वाभाविक कार्यो में कमी तथा कफज (कफ से उत्पन्न) रोगों जैसे- अग्निमन्द्य (पाचन की कमज़ोरी), जी मिचलाना आदि लक्षण दिखाई देते है।[78]

---

76. तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनयः स्नेहाः।। — अ.सं.सू. 13/3, अरुणदत्त

- "मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम्।।" — च.सू. 13/15
- "तद्वस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये।।" — सु.सू. 45/113
- "य स्नेहैर्दीयते सः स्यादनुवासननामकः।
कषाय क्षीरतैलैर्यो निरुहः स निगद्यते।।" — शा.उ.ख. 5/2
- "अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात् तीक्ष्णग्निः केवलानिलीः।" — शा.उ. 5/5
- "वातव्याधावुदावर्ते वातासृग्विषमज्वरे।
मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छाश्मरीषुच।।"
"वृद्धासृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहरणम्।
शूलेऽम्लपित्तेहृद्रोगेयोजयेद्विधिवद् बुधः।।" — शा.उ.ख. 6/6-7

77. "वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्रोहकुसुमफल पलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्।।" — चरकसूत्र 20/13

78. "तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च।।" — सु.सू. 15/11
"प्रसेकारुचिहल्लाससंज्ञामोहल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गिसादाग्निवैषम्यादिभिः क्षीणो वायुः पीड्यति।" — अ.सं.सू. 21/9
"लिंङ्ग क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसंभवः।।" — अ.हृ.सू. 11/15

वायु का क्षय होने पर वायु को बढ़ाने (प्रकुपित करने) वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। जैसे- कटु (कड़वे), तिक्त (तीखे) कसैले रस वाले, लघु (हल्के), रूखे एवं शीतल (ठण्डे) द्रव्य वायु को बढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त वायुप्रकोपक कारणों में बताये गये आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।[79]

♦ साम तथा निराम वायु

जब वायु शरीर में 'आम-रस' (भोजन का ठीक प्रकार पाचन न होने पर जब अधपचे भोजन का अंश शरीर में रहता है, उसे आम-रस कहते हैं) के साथ मिल जाती है, तो उसे साम (आम के साथ युक्त) वायु कहते हैं। साम वायु होने पर शरीर में निम्नलिखित लक्षण दिखाई देते है :

- विबन्ध अर्थात् मल, मूत्र और अपान वायु का बाहर न निकलना,
- भोजन की पाचन-शक्ति में दुर्बलता,
- तन्द्रा-सुस्ती,
- आँत में गुड़गुड़ाहट की आवाज़,
- कमर आदि में दर्द,
- शोथ अर्थात् आमवात, गठिया आदि रोगों में जोड़ों में सूजन होना, तथा
- तोद (सुई चुभने के समान दर्द)।[80]

यदि इसकी चिकित्सा शीघ्र न की जाय तो यह साम वायु प्रकुपित होकर सारे शरीर में फैल जाता है और अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

जब वायु में आम नहीं होता अर्थात् निराम वायु रूक्ष (त्वक आदि अंगों में रूखापन लाने वाली), विशद (मुख, जीभ आदि को सुखाने वाली), विबन्ध से रहित और कम पीड़ा वाली होती है। इसके उपचय के लिए विपरीत गुणों वाले अर्थात् स्निग्ध (तैलीय) आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।[81]

♦ वायु के भेद

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वायु पाँच प्रकार की है। प्रत्येक प्रकार की वायु का आश्रय-स्थान और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। इन्हीं के आधार पर वायु को पाँच भेदों में बाँटा गया है। अलग-अलग वायु के प्रकोप से होने वाले रोग भी अलग-अलग हैं। इन सबका उल्लेख निम्नलिखित तालिका में किया जा रहा है :

---

79. "तत्र (वातक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः।।" — सु.सू. 15/12
"वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्।।" — च.शा. 6/11

80. सर्व च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।
स्निग्धत्वरोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः।।
कटु रूक्षाभिलाषेण तद्विघोपशयेन च।
युक्तं विद्यान्निरामं तु तन्द्रादीनां विपर्ययात्।। — अ.ह.नि. 16/29-30

* वायुः सामो विवन्धाग्निसादतन्द्रान्त्र कूजनैः।
वेदना शोफनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीऽयन्।।
विचरेधु गपच्चापि ग्रहलाति कुपितो भृशम्।
स्नोहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेदोदये निशि।। — अ.ह.सू. 13/27

81. निरामो विशदो रूक्षो निर्विवन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीत गुणैः शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषतः।। — अ.ह.सू. 13/28

वायु के भेद और कार्य

क्र.सं.	वायु के भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	प्रकोप से होने वाले रोग
1.	प्राण[82]	सिर, जिह्वा, हृदय कण्ठ, मुख और नासिका	श्वासोच्छ्वास की क्रिया, मुख व नासिका द्वारा बाहरी वायु का शरीर में प्रवेश करा कर देह को धारण करना; थूकना; छींकना आदि।	हिक्का (हिचकी), कास (खांसी), श्वास (दमा), जुकाम, स्वर भंग (गला बैठना)
2.	उदान[83]	कण्ठ, नाभि (डायफ्रॉम), वक्षस्थल	कण्ठ का स्वर एवं बोलना; श्वास को ऊपर की ओर ले जाना; कार्य के लिए प्रयत्न उत्साह और बल	आँख, कान, नाक एवं गले के रोग (ऊर्ध्वजत्रुगत रोग)।
3.	समान[84]	आमाशय, पक्वाशय	पाचक रसों के सक्रिय होने से भोजन का पृथक्करण (अलग-अलग होना) और उनका विभिन्न धातुओं (रस, रक्त, मांस आदि) व मलों में वर्गीकरण; स्वेदवह, दोषवह एवं जलवह स्रोतों का नियन्त्रण।	अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अतिसार और दोषपूर्ण पृथक्करण।
4.	अपान[85]	बडी आँत, श्रोणि प्रदेश (pelvis) के अंग (पक्वाशय, गुदा, वृषण, मूत्रेन्द्रिय, मूत्राशय, नाभि एवं बस्ति प्रदेश)	मल, मूत्र तथा शुक्र (पुरुषों में) आर्तव एवं गर्भ (स्त्रियों में) को वेग न होने पर स्थिर रखना तथा धारण करना तथा वेगकाल में उन्हें निःसृत करना।	अश्मरी (पथरी) मूत्रकृच्छ्र, भगन्दर, गुदभ्रंश आदि मूत्राशय, मलाशय व अण्डकोषों के रोग और मूत्र सम्बन्धी कष्टसाध्य रोग (मधुमेह, प्रमेह आदि)
5.	व्यान[86]	सारा शरीर, विशेष रूप से हृदय	स्वेद (पसीना) की उत्पत्ति, नीचे झुकना, ऊपर उठना, आक्षेप, निमेषोन्मेष (पलक खोलना व झपकना), वीर्यगमन, आदि।	स्रोतों की संचरण क्रिया में शिथिलता, ज्वर, अतिसार रक्तपित्त, यक्ष्मा आदि सारे शरीर में पाये जाने वाले रोग।

82. "स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठ (कर्ण) जिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूगार श्वासाहारादि कर्म च ।।" — च.चि. 28/6

83. "उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक् प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च।।" — च.चि. 28/7

"उदानोनाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते।।
उर्ध्वजत्रु गतान् रोगान् करोति च विशेषतः।।" — सु.नि. 1/14/15

84. "आमपक्वाशयचरः समानोवन्हिसंगतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि।।
गुल्माग्निसादातीसार प्रभृतीन् कुरुते गदान्।।" — सु.नि. 1/16/17

"स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतासि समधिष्टितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः।।" — च.चि. 28/8

4. पित्त

तीनों दोषों में वायु के पश्चात् पित्त का स्थान आता है। इससे सम्बन्धित विविध पक्षों का वर्णन इस प्रकार है:

♦ पित्त के स्वाभाविक गुण :

पित्त दोष उष्ण (गर्म), कुछ स्निग्ध (चिकना), तीक्ष्ण (पाचन और दाह अर्थात जलाने वाला), शीघ्र (आशु), द्रव्य (तरल), विस्रगन्धि (कच्चे मांस जैसी गन्ध वाला) होता है।[87] निराम (आम से रहित-पक्व) दशा में पित्त-रस तिक्त स्वाद वाला तथा रंग में पीला होता है। जबकि साम (कच्ची-अपक्व) दशा में यह स्वाद में खट्टा (अम्ल) और रंग में नीला होता है।[88]

♦ पित्त के गुणों का शरीर और स्वभाव पर प्रभाव :

वायु के समान शरीर में विद्यमान पित्त भी शरीर की बनावट और स्वभाव के निर्माण में सहायक होते हैं। इसके विभिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है, जो निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है:

---

85. वृषणौ वस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरु वङ्क्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च।।
सृजत्यार्तवगर्भौ च, युक्ताः स्थान स्थिताश्च ते।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैर नामयः।। च.चि. 28/10-11
पक्वाधानालयोऽपानः कालेकर्षतिचाप्यम्।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्त्तवान्यधः च।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्ति गुदाश्रयान्।। सु.नि. 1/19-20

86. कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।।
स्वेदा सृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान प्रायशः सर्वदेहगान्।'' सु.नि. 1/17/18
''देहं व्याप्नोति सर्वंतुव्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गति प्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा।।'' च.चि. 28/9

87. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पितं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।। च.सू. 1/60
कटिवति तिक्तम् ।। (गगांधर)
पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च ।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ।। सु.सू. 21/11

88. पित्तं हि विदग्धम्म्लतामुपैत्याग्नियत्वात् ।। सु.सू. 42/10
मार्धुयमन्नं गतमामसंज्ञं विदग्धसंज्ञ गतमम्लभावम्, किचिद् विपम्वं ।। सु.सू. 46/509

89. पित्तं बन्हिर्वन्हिंज वा पदस्मात् पितोद्रिक्त स्र्वाक्ष्णतृष्णावृमक्षः ।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्धिवक्त्रः शुरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोम ।।

पित्त के गुण	व्यक्ति पर प्रभाव
1 उष्णता (गर्मी)[89]	उष्ण पदार्थों और गर्मी का सहन न कर पाना, चेहरे का उष्ण होना, शरीर का कोमल और स्वच्छ होना, शरीर पर हल्के भूरे धब्बे या चित्ती, काले तिल, मस्से व छाइयां होना, भूख व प्यास का अधिक लगना, त्वचा पर समय से पहले झुर्रियां आना, बालों का जल्दी ही सफेद हो जाना, गंजापन शीघ्र ही आ जाना, सिर, चेहरे व शरीर के अन्य अंगों में कुछ कोमल और भूरे बालों का पाया जाना।
2 तीक्ष्णता[90]	शारीरिक शक्ति का अधिक प्रदर्शन, तीक्ष्णता (स्वभाव में) तीव्र पाचन शक्ति, खाद्य और पेय पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, परिस्थितियों का मुकाबला करने में असमर्थता, लचीलापन।
3 द्रवता[91]	मांसपेशियों और हड्डियों के जोड़ों में कोमलता तथा शिथिलता (ढीलापन) पसीना, मल और मूत्र का अधिक मात्रा में बाहर निकलना ।
4 विस्रगंधिता[92]	बगल, मुख, सिर तथा शरीर के दूसरे अंगों से तेज़ दुर्गन्ध (कच्चे मांस जैसी गन्ध) आना।
5 कटुता (कड़वापन)[93] और अम्लता (खट्टापन)	शुक्र की मात्रा, सम्भोग की इच्छा तथा जनन शक्ति (सन्तान उत्पत्ति की शक्ति) में कमी।

जिस व्यक्ति में पित्त दोष अधिक मात्रा में पाया जाता है, वह पित्त-प्रधान प्रकृति का माना जाता है। पित्त की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर उसका बल, जीवन की अवधि, आध्यात्मिक औ[र] भौतिक ज्ञान, धन एवं जीवन की अन्य सुविधा[एं] मध्यम प्रकार की होती हैं।[94]

---

90. दयित माल्यविलेपशमण्डनः सुचरित शुचिराश्रितवत्सलाः ।
विभवसाहस बुद्धिबलान्वितो भवति भीषु शतिद्विषातामपि ।।

91. मेधावी प्रशिथिल सन्धिवन्धमांसो नारीणामनमितोडल्पशुक्रमांमः ।
आवासः पलिलतरङ्गनीलिकानां मधुरकषायातिक्तशीतम् ।।

92. धर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धि भर्यूच्चारक्रोध्पानाशनेर्ष्यः ।

93. तननि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि ।
क्रोधेन मघेन श्वेश्च भासा रोगं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ।। अ.ह्.शा. 3/10-1[4]

94. मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः । अ.ह्.शा 3/1[5]
ब्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ।।

♦ पित्त प्रकोप के लक्षण :

जब किसी व्यक्ति के शरीर में पित्त दोष का प्रकोप (अधिकता) हो जाता है, तो थकावट, बल और नींद में कमी, अधिक पसीना, शरीर में जलन व तापमान की अधिकता, त्वचा का रंग पहले की अपेक्षा गाढ़ा हो जाना, अंगों से दुर्गन्ध आना, चिपचिपाहट, मुँह, गला आदि का पकना, क्रोध, मूर्च्छा (बेहोशी) तथा चक्कर आना, आदि लक्षण दिखाई देते हैं। त्वचा, मल, मूत्र, नाखूनों और नेत्रों का पीलापन, पित्त के प्रकोप के विशेष लक्षण हैं। मुँह का कड़वा और खट्टा स्वाद, एवं शीतल आहार-विहार की इच्छा भी पित्त की अधिकता के कारण होते हैं।[95]

♦ पित्त प्रकोप के कारण :

कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, विदाही (जलन पैदा करने वाले तथा तीखे (लाल मिर्च, आदि) पदार्थो एवं मादक द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में पित्त दोष बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त सूखी सब्जियां और क्षार पदार्थो का प्रयोग, धूप और अग्नि का अधिक सेवन, अधिक मैथुन, अनियमित रूप से भोजन करना (निश्चित समय पर भोजन न करना, या भूख न लगने पर भोजन करना, या भूख लगने पर भोजन न करना) अपच (बदहज़मी), क्रोध, भय, और निराशा के विचार भी शरीर में पित्त दोष को प्रभावित कर देते हैं, कुछ विशेष पदार्थ, जैसे- तिल का तेल, कुलत्थ, सरसों, हरीतक साग, दही, छाछ, कुर्चिका (दूध के नीचें की खुरचन), मस्तु, सौवीरक (काञ्जी-खट्टा सिरका), मद्य-पदार्थ, खट्टे फल, कट्वर तथा गोह मछली, भेड़ व बकरी का मांस-खाने से भी पित्त में वृद्धि होती है।[96]

♦ प्रकुपित पित्त को शान्त करने के उपाय :

सबसे पहले तो उन सब कारणों से दूर रहना चाहिए जिसके फलस्वरूप पित्त प्रकुपित हुआ है।

विरेचन : (पेट साफ करने की औषधि का सेवन) सर्वश्रेष्ठ उपाय है[97] क्योंकि यह मूल रूप से आमाशय और ग्रहणी में इकट्ठा होता है और विरेचन औषधि इन्हीं अंगों में पहुंच कर वहाँ एकत्र हुए पित्त को पूरी तरह बाहर निकाल देती है।

इसी प्रकार निरन्तर घी का सेवन (घृतपान) भी इस दृष्टि से बहुत उपयोगी रहता है क्योंकि

---

95. पित्तस्य दाहरागोष्यपाकिता: ।।
स्वेद: क्लेद: स्त्रुति: कोथ: सदनं मूर्च्छनं मद: ।
कटुकाम्लौ रसो वर्ण: पाण्डुरारूण वर्जित: ।।
उष्मा पित्ताद्वते नास्ति ।। — अ.ह.सू. 12/41-42, अ.ह.चि. 1/16

96. क्रोध शोकभयासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकटवम्ललवण तीक्ष्णोष्णाम्लघुविदाहितिलतैल पिव्याककुलत्थ सर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमां - सदधितक्रकूर्चिकामस्तु सौवीरक: सुराविकाराम्लफलकट्वर प्रभृतिभि: पित्तं प्रकोपमापद्यते ।। — सु.सू. 21/21

97. विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठम्) ।। — च.सू. 25/40

इसमें पित्त-विरोधी मधुर, शीत और मन्द गुण पाये जाते है। पित्त के पुराने रोगों में तो अलग-अलग प्रकार से घी का सेवन कराया जाता है।[98]

♦ पित्त–क्षय के लक्षण व उपचार :

जब शरीर में पित्त का क्षय (कमी) हो जाता है, तो अग्निमान्द्य (पाचन शक्ति की कमी), शरीर के तापमान में कमी, मुख की कान्ति और चमक में कमी तथा ठण्ड की अनुभूति होती है । पित्त के जो अपने गुण कर्म हैं, वे भी कम मात्रा में कार्य करते हैं।[99]

पित्त की कमी होने पर, उपर्युक्त पित्त का प्रकोप करने वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे खाद्य पदार्थो और औषधियों को प्रयोग में लाना चाहिए, जो आग्नेय हों अर्थात् जिनमें अग्नि तत्त्व अधिकता से पाया जाए।

♦ साम और निराम पित्त :

जब पित्त आम दोष से युक्त होता है, तो वह दुर्गन्ध युक्त खट्टा, स्थिर (जल आदि तरल पदार्थो में डालने पर शीघ्र न फैलने वाला), गुरु (भारी अपेक्षाकृत गाढ़ा) तथा रंग में हरा या श्याम (कालिमा से युक्त) होता है । इस अवस्था में खट्टे डकार और छाती व गले में जलन होती है।[100]

जब पित्त आम से रहित होता है, तो बहुत उष्ण, तिक्त और कटु स्वाद वाला चल या अस्थिर (जल में शीघ्र मिलने वाला), कुछ लाल पीले रंग वाला होता है। यह भोजन में रुचि, और पाचन शक्ति को बढ़ाता है ।

साम पित्त का प्रकोप होने पर तिक्त रस वाले पदार्थो तथा निराम पित्त का प्रकोप होने पर मधुर और कसैले (कषाय) पदार्थो का सेवन करना चाहिए।[101]

♦ पित्त के भेद :

पहले बताया जा चुका है कि अलग अलग अंगों में रहने और अलग कार्य करने के कारण पित्त को पाँच भेदों में बाँटा गया है। इनके आश्रय, स्थान और कार्य आदि का उल्लेख निम्नलिखित तालिका में किया जा रहा है।

---

98. कट्वम्वलवणाः पितं (कोपयन्ति) ।। — च.सू. 1/67
कषायस्वादुतिक्तकाः । जयन्ति पित्तम् ।। — च.सू. 1/66
मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः ।।
कट्वम्ललवणाः पितं जनयन्तिः — च.वि. 1/6
मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति ।।
''स्तम्भ शैतया मियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुण्यकम्पगौरवनखनयन — अ.सं.सू. 11/16
शौक्ल्यादिभिः पित्तम् ।'' — सु.सू. 15/11

99. पितक्षये मन्दोमाग्निता निष्प्रभत्वं च ।। — अ.ह.सू 11/16
पिते (क्षीणे) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः ।।

*100. दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमग्लं धनं गुरु ।
अम्लीकाकण्ठहृछाहकंर सायं विनिर्दिशेत् ।।

*101. आताम्रपतिमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्वं विगन्धि विज्ञेय रुचिपक्तिबलप्रदम् ।। — अ.ह.सू. 13/27/28 के मध्य प्रक्षेप

पित्त के भेद व कार्य[102]

	पित का भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	प्रकोप से होने वाले रोग
1.	पाचक	आमाशय का अधोभाग व पक्वाशय का मध्यभाग	भक्ष्य, भोज्य लेह्य व पेय पदार्थो का पाचन, सार भाग (रस) व किट्टभाग (मल-मूत्र) का पृथक्करण, अपने स्थान पर ही स्थित रह कर शेष चार पित्त स्थानों व समग्र शरीर का गर्मी द्वारा पोषण करना क्षुधा व पिपासा की उत्पत्ति।	अजीर्ण एवं अपच।
2.	रञ्जक	यकृत और प्लीहा अन्य मतानुसार आमाशय	रस धातु का रञ्जन करके उसे रक्त वर्ण प्रदान करना अर्थात् रस को रक्त में परिवर्तित करना।	रक्ताल्पता, पीलिया आदि
3.	साधक	हृदय	हृदय के आवरक कफ व तमस् को दूर कर मन को स्वच्छ करना बुद्धि, मेधा, अभिमान, आदि द्वारा मन के इच्छित विषयों का ध्यान करना, स्मृति आदि।	मानसिक असन्तुलन, भय क्रोध, मोह आदि
4.	आलोचक	नेत्र	रूप का ग्रहण अथवा दर्शन	दृष्टि विकार ।
5.	भ्राजक	त्वचा	त्वचा को चमक एवं रंग प्रदान करना, शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा बनाए रखना, अभ्यंग (मालिश) लेप स्नान आदि में प्रयुक्त स्नेहन आदि पदार्थो का पाचन कर शरीर में उनका प्रभाव पहुँचाना।	श्वेतकुष्ठ व अन्य चर्म रोग।

5. कफ अथवा श्लेष्मा

दोषों में महत्त्व और क्रम की दृष्टि से कफ का स्थान तीसरा है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का वर्णन प्रस्तुत है ।

---

102. रागपक्ति तेजोमेधोष्मकृत पित्तं पञ्चध प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ।। — सु.सू. 15/5

यददृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोग्निरिति संज्ञा, स रुपगृहणाधिकृतः । यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः ।। — सु.सू. 21/10

वात पित कफ वायु सूर्य चन्द्र रूप है — च.सू. 12/12

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ।।

♦ कफ के स्वाभाविक गुण :

कफ स्निग्ध (चिकना), मधुर, भारी, शीतल, मृदु (मुलायम) दृढ, स्थिर, पिच्छिल (चिपचिपा), मन्द तथा क्लिन्न (गीला स्वच्छ) होता है, यही इसके स्वाभाविक गुण है। इसका रंग सफेद तथा रस (स्वाद) मधुर होता है ।[103]

जिस व्यक्ति के शरीर में कफ दोष की अधिकता होती है, वह कफ प्रकृति वाला कहलाता है। ऐसे व्यक्ति पर ये गुण विशेष रूप से प्रभाव डालते है । कफ का कौन सा गुण क्या प्रभाव डालता है, इसका उल्लेख निम्नलिखित है :[104]

	कफ के गुण	व्यक्ति पर प्रभाव
1.	स्निग्धता	शरीर के अंगों में स्निग्धता (तैलीय प्रभाव)।
2.	श्लक्ष्णता या चिकनाहट	शरीर के अंगों में चिकनाहट।
3.	मृदुता या कोमलता	सुन्दरता, प्रसन्नवदन, कोमलता व गोरा रंग।
4.	मधुरता	वीर्य की अधिकता, सम्भोग की अधिक इच्छा और प्रजनन शक्ति की अधिकता।
5.	दृढता	शरीर में गठीलापन, स्थिरता और मज़बूती (दृढ़)।
6.	घनता	स्थूलता (मोटापे की प्रवृत्ति) और अंगों का गोल होना।
7.	मन्दता	क्रियाकलाप, भोजन के ग्रहण और चाल में धीमापन लाना।
8.	स्थिरता	किसी कार्य को आरम्भ करने में आलस्य, कम क्रोध, चिड़चिड़ापन ओर गम्भीर रोगों की उत्पत्ति परन्तु रोग गम्भीरता का धीरे धीरे प्रकट होना।
9.	गुरुता (भारीपन)	स्थिर तथा गम्भीर चाल, जिसमें पैर के तलुवों को भूमि पर पूरी तरह टिका कर चलना।
10.	शीतलता	भूख, प्यास तथा गर्मी कम लगना, और पसीना कम।
11.	चिपचिपाहट (पिच्छिलता)	जोड़ों में दृढ़ता और स्थिरता व सुडौल होना।

---

103. श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
माधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ।। — सु.सू. 21/15

गुरुशीत मृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ।। — च.सू. 1/61

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसार सान्द्रमन्दस्तिमित
गुरुशीतविज्जलाच्छः ।। — च.वि. 8/96

कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति में बल, धन, ज्ञान, शक्ति, शान्ति जैसे गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं तथा वह दीर्घायु (लम्बी आयु वाला) होता है ।[105]

♦ प्रकुपित कफ के लक्षण :

जब शरीर में कफ दोष अधिक मात्रा में हो जाता है, तो तन्द्रा (सुस्ती), अधिक नींद, मुँह का मीठा स्वाद, त्वचा में सफेदी, शीतलता, स्निग्धता और खुजली होना, शरीर में भारीपन उपदेह अर्थात् शरीर से निकलने वाले मल पदार्थो जैसे मल, मूत्र, पसीना आदि में चिपचिपापन स्तिमतता अर्थात् ऐसा अनुभव होना जैसे कि शरीर या प्रभावित अंग गीले कपड़े से लिपटा हो, लेप अर्थात् ऐसा लगना जैसे कोई बाहर का पदार्थ शरीर से चिपका हो, सूजन, बलगम, आखों और नाक के मल आदि का अधिक मात्रा में स्राव, चिरक्रिया अर्थात शरीर पर किसी भी प्रतिक्रिया का देर से होना, अंगों में ढीलापन, श्वास, खाँसी तथा अवसाद (उदासी किसी कार्य करने में दिल न लगना) आदि लक्षण प्रकट होने लगते है।[105]

♦ कफ प्रकोप के कारण :

मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे), भारी, चिकने एवं क्लेदक खाद्य और पेय पदार्थो, माँस-मछली तिल से तैयार खाद्य पदार्थो, गन्ने, दूध, नमक और जलीय पदार्थो का अधिक मात्रा में सेवन करने से, आवश्यकता से अधिक मात्रा में खाने से, पहले खाये गये भोजन के पचे बिना फिर भोजन/दिन के समय सोने से आलस्य करने और व्यायाम न करने से शरीर में कफदोष प्रकुपित हो जाता है। वसन्त ऋतु, प्रातः काल, रात्रि के पहले प्रहर भोजन के बाद और बाल्य अवस्था में कफ स्वाभाविक रूप से ही प्रकुपित रहता है।

---

104. शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवाञ् जलदमृदङ्गसिंहघोषः ।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् सपंश्येदपि च
जलाशयान् मनोज्ञान ।
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्वगुणोयन्नः ।
क्लेशक्षमो सामयितो गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ।।
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददातिबहु
परिनिश्चतवाक्यपदः सततं गुरुमानकरञ्च भवेत् स सदा ।
ब्रह्मरूद्रेन्द्रवरुणैः सिहांश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानुकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ।। सु.शा. 4/72-76

105. श्वैत्य शैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्ध
माधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं
श्लेष्मविकारमेवाध्यावस्येत् ।। च.सू. 20/18

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम् ।
बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः ।।
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता । अ.ह.सू. 12/53/54

कुछ खाद्य पदार्थ जैसे दही दूध, कृशरा, (तिल और उड़द की खिचडी) खीर, कुछ विशेष जन्तुओं (पानी में रहने वाले आनूप प्रदेश में रहने वाले) का मांस, चर्बी, कमलनाल, सिंघाड़ा, नारियल, घीया, कद्दू आदि (जो लताओं पर उगते है) कफ को बढाते है ।[106]

♦ प्रकुपित कफ को शान्त करने के उपाय :

जिन उपर्युक्त कारणों से कफ दोष प्रकुपित होता है उन[107] कारणों को दूर करके कफ को शान्त किया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए-

1. तीक्ष्ण (तेज़) और उष्ण (गर्म प्रभाव वाले) औषधि द्रव्यों से वमन (उल्टी) और विरेचन क्रियाओं का उचित रूप से प्रयोग।
2. कफ विरोधी गुणों वाले पदार्थो, यथा-कटु, तिक्त और कषाय रसों वाले तथा रूक्ष (रूखे), तीक्ष्ण और उष्ण आहार-विहार का सेवन।
3. ऐसे द्रव्यों का सेवन जिनका वीर्य विपाक और प्रभाव कफ का विरोधी हो,
4. पुराने और तीव्र मद्य पदार्थो एवं पुराने शहद का सेवन,
5. औषधीय धूम्रपान और लंघन क्रिया (शरीर का वज़न कम करने वाले) का प्रयोग,
6. विविध प्रकार से स्वेदन (सेक), धूप सेकना, सूखी मालिश व उबटन मलना,
7. विभिन्न प्रकार के व्यायाम, जैसे -दौड़ना ऊँची व लम्बी कूद, कुश्ती, दण्ड बैठक, तेज़ी से टहलना, तैरना आदि।
8. अधिक सम्भोग, रात्रि को जागते रहना, युद्ध कला का अभ्यास आदि
9. गर्म वस्त्रों का अधिक प्रयोग,
10. नस्य या शिरोविरेचन (नाक में औषधीय तेल डाल कर ऊपर की ओर खींचना)
11. आराम तलबी की आदतों से दूर रहना तथा
12. किसी चिन्ता या शोक से ग्रस्त रहना ।[108]

---

106. दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीत स्निग्ध गुरुपिच्छिलाभिष्यान्दिहायनकथवकनैषधेकटमाष महामाष गोधमतिलपिष्ट विकृति दधिदुग्धकृशरा पायसेक्षुविकारानूपौदक मांसवसाविस मृणाल कसेरुक श्रृंङ्गाटक मधुरवल्लीफल समशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।। सु.सू. 21/23

107. सक्षेपतः क्रिया रोगः निदानम् परिर्वजनम् ।।

108. विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानिसंशोधनानि, रुक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरण जागरण नियुद्ध व्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादानानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानायुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, सुख प्रतिषेधश्च सुखार्यमेवेति ।। च.वि. 6/18

छिन्ने वरोपुष्पफले प्ररोहा

इनमें वमन क्रिया सबसे श्रेष्ठ उपाय है[109] क्योंकि यह कफ के मूल सहित आमाशय और उरःस्थल (छाती में प्रकुपित हुए कफ को जड़ से बाहर निकाल देती है। परन्तु यह वमन तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों से तैयार होना चाहिए।

♦ कफ क्षय के लक्षण और उपचार :

यदि शरीर में कफ की मात्रा कम (क्षय) हो जाए, तो शरीर में रूखापन, अन्दर से जलन, कफ के आश्रय स्थानों (फेफड़ों, हृदय, हड्डियों के जोड़ों और विशेषतः सिर में) खालीपन (शून्यता) महसूस होना, सन्धियों में ढीलापन, अत्यधिक प्यास, कमजोरी ओर नींद की कमी जैसे लक्षण प्रकट होने लगते है। कफ के स्वभाविक गुण और कर्मो में कमी आ जाती है।[110]

♦ साम और निराम कफ :

जब कफ आम से मिला होता है, तो अस्वच्छ (धुँघला-सा) तन्तुओं वाला (जिसमें तार जैसे बँधे हों) गाढ़ा गले में चिपकने वाला तथा दुर्गन्ध वाला होता है। यह कफ डकार को रोकता तथा भूख को कम करता है।[111] इसके विपरीत निराम (आम के बिना) कफ झाग वाला, जमा हुआ, हलका (जल में डालने पर फैलने वाला) और दुर्गन्ध से रहित होता है। यह गले में नहीं चिपकता तथा मुख को शुद्ध रखता है।

♦ कफ के भेद :

स्थान और कार्यो की भिन्नता के कारण कफ के भी पांच प्रकार माने गये हैं।[112] इन पांचों का उल्लेख निम्नलिखित तालिका द्वारा किया जा रहा है।

यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति ।
तथा हतेश्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ।। — सु.चि. 33/13

मधु च (सतत मभ्यस्मानं) श्लेष्माणं जयति
रौक्ष्यात्तैक्ष्णात् कषायत्वाच्च ।
श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ।। — च.वि. 1/14

109. वमनं श्लेष्महराणाम् (श्रेष्ठम्) ।। — च.सू. 25/40
वमनं तु सवोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं
मन्यन्ते भिषजः । — च.सू. 20/19

110. श्लेष्मक्षये रूक्षताअन्तदहि आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता
सन्धि शैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च ।। — सु.सू. 15/11
तत्र (श्लेष्मक्षये) स्वयोनिर्वधनान्येव प्रतिकारः ।। — सु.सू. 15/12

* ''भ्रमोद्वेण्टनानिद्राङ्गमर्दपरिप्लीष ले ददवदाहस्फोटनवेपन धूमायन सन्धि शैथित्य
हृदयद्रव श्लेष्माशय शून्यता दिभिः श्लेष्मा ।।'' — अ.सं.सू. 21/9

111. आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशोऽवतिष्ठते ।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविधातकृत ।।

112. फेनवान पिण्डितः पाण्डुर्निः सारोऽगन्ध एव च ।
पक्वः स एवं विज्ञेयश्च्हेवान् वक्त्रशुद्धिकृत ।। — अ.हृ.सू. 13/27-28 के मध्य प्रक्षेप

कफ के भेद व कार्य[113]

	कफ का भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	कफ प्रकोप के कारण होने वाले रोग
1.	क्लेदक	आमाशय	भोजन को क्लिन्न (गीला) करना अतः भोजन पाचन में सहायक।	मन्दाग्नि (पाचन शक्ति की दुर्बलता), शरीर में भारीपन, प्रतिश्याय, हल्लास (जी मिचलाना)।
2.	अवलम्बक	उरस्थल	अन्नरस के साथ मिल कर त्रिक (ग्रीवा व बाहु की अस्थियों) हृदय व फुफफुस को कार्य करने की क्षमता प्रदान करना।	आलस्य।
3.	बोधक	जिव्हामूल व कण्ठ	स्वाद का बोध (ज्ञान) कराना।	स्वाद में गड़बड़।
4.	तर्पक	शिर	ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण (पोषण) करना।	स्मृतिनाश तथा ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं में शिथिलता।
5.	श्लेषक	अस्थि, सन्धियां	सन्धियों को जोड़ना व चिकना बनाना।	जोड़ों (सन्धियों) में दर्द एवं उनके कार्य में शिथिलता।

6. प्रकृति को पहचानें

आयुर्वेद की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति के स्वास्थ्य और रोगों की चिकित्सा में उसकी प्रकृति का विशेष योगदान रहता है। क्योंकि प्रकृति के आधार पर ही एक स्वस्थ व्यक्ति अपने अनुकूल आहार विहार को चुन सकता है और इसी के आधार पर रोगी को औषधि प्रदान की जाती है। प्रकृति का निश्चय किसी व्यक्ति की शारीरिक बनावट स्वभाव, चारित्रिक विशेषताओं आदि को देख कर किया जाता है। वस्तुतः इस प्रकृति का निर्धारण जन्म से पहले ही हो जाता है।

यह सार्वभौमिक नियम है कि बच्चे का जन्म माँ के गर्भाशय में अण्डाणु के साथ शुक्राणु के मिलने से होता है, इसके पश्चात भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) का विकास होता है। शुक्राणु और अण्डाणु के संयोग के समय, जो दोष (वायु, पित्त या कफ) विद्यमान होते हैं, उन्हीं के आधार पर बच्चे की शरीर की बनावट, उसका स्वभाव तथा मानसिक और चारित्रिक गुणों का विकास होता है। इन गुणों और विशेषताओं को ही आयुर्वेद में 'प्रकृति' कहा

113. अवलम्बकक्लेदबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा ।
स तूरस्थः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्न वीर्येण च
सह हृदयस्य च शेषणां च श्लेष्मस्थानानां
तत्रस्थ एवोदकर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते ।
अमाशयस्थितोन्नसङ्घातस्य क्लेदनात्क्लेदकः ।
रसनास्थ सम्यग्रसबोधनाद्बोधकः ।
शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात् तर्पकः ।
पर्वस्थोऽस्थिसन्धिश्लेषात् श्लेषक इति ।।
अ.स.सू. 20/6

जाता है।[114] यदि इस अवस्था में तीनों दोष सम अवस्था में हैं, तो स्वस्थ बच्चे का जन्म होता है। यदि तीनों गुण बहुत अधिक असन्तुलित (विषम) है, तो इससे गर्भ ठहरेगा नहीं या गर्भ ठहरने पर भी भ्रूण का विकास नहीं होगा या विकास होने पर उसमें कोई न कोई विकार अवश्य होगा। यदि तीनों में कोई एक दोष अधिक मात्रा में विशेष सीमा तक विद्यमान है तो उस दोष के अनुसार ही बच्चे के गुण कर्म, स्वभाव और शारीरिक रचना होगी। यदि दो दोषों की अधिकता है, तो दोनों के गुणों का मिश्रण होगा और बच्चे के स्वभाव, आदि भी उसी के अनुरूप बनेंगे। इस आधार पर सात प्रकार की प्रकृतियाँ मानी गई है[115] :

1. वात–प्रकृति **2. पित्त–प्रकृति**
3. कफ–प्रकृति **4. वात–पित्त–प्रकृति**
5. पित्त कफ प्रकृति **6. वात–कफ–प्रकृति**
7. सम–प्रकृति

यहाँ यह तथ्य ध्यान रखने योग्य है कि जन्म के समय व अवस्था, समय आदि के अनुसार दोषों में वृद्धि या प्रकोप तो होता रहता है, परन्तु उसकी मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। एक विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति में उस विशेष दोष का प्रकोप बहुत जल्दी हो जाता है अर्थात् वात-प्रकृति के मनुष्य में थोड़ी सी भी अनियमितता से वायु एकदम बढ़ जाती है, तो कफ प्रकृति के मनुष्य में कफ, और पित्त-प्रकृति के मनुष्य में पित्त एकदम प्रकुपित हो जाता है । वस्तुत:[116] इस प्रकृति के निर्माण में दोषों के अतिरिक्त निम्नलिखित तत्त्व भी गौण रूप से सहायक होते है :

1. शुक्राणु और अण्डाणु की अवस्था
2. ऋतु की प्रकृति (गुण, कर्म आदि) और गर्भाशय के अन्दर का वातावरण,
3. गर्भावस्था के दौरान माँ द्वारा अपनाया गया आहार-विहार (खान-पान और अन्य आचरण)।
4. भ्रूण का संयोजन (मिलाने) करने वाले महाभूतों की विशेषताएँ, गुण और कर्म ।

ये सब तत्त्व होने वाले बच्चे की जाति (जैसे ब्राह्मण में पवित्रता, विद्वत्ता आदि, क्षत्रिय में वीरता, आदि) पारिवारिक विशेषताओं, स्थान

---

114. शुक्रशोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कट: ।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं श्रृणु।। — सु.शा. 4/62
कालदयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्त: प्रकृतिजनका भवान्तीति तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगत दोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शित: ।। — चक्रपाणि
प्रकृति जन्मप्रभृति वृद्धौ वातादि: ।। — चक्रपाणि

115. सप्त प्रकृतयो भवन्ति –
दोषै: पृथग् द्विशै: समस्तैश्च ।। — सु.शा. 4/61

116. एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेननिकैन वा समनुबद्धयन्ते,
तेन तेन दोषेण गर्भोऽनु बद्धयते,
तत: सासा दोषकृतिरूच्यते मनुष्याणांगर्भादिप्रवृता ।
तस्माच्छश्लेष्मला: प्रकृत्या केचित्,
पित्तला: केचित वातला: केचित् संसृष्टा केचित् ।। — च.वि. 8/95

(जैसे पर्वतीय क्षेत्र, सीमा क्षेत्र आदि), समय (ऋतु विशेष का माता पिता पर होने वाला प्रभाव), आयु (माता-पिता, विशेषकर माता की आयु) तथा बच्चे (जीव) की अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं (अपने पूर्व के संस्कारों आदि) से भी प्रभावित होता है।[117]

चूंकि अनेक प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित होने पर भी प्रकृति का मूल कारण दोष ही है, अत: इसका नाम वायु आदि के आधार पर रखा गया है। वैसे तो तीनों दोषों के गुणों और उनका शरीर पर होने वाले प्रभाव का उल्लेख पहले किया जा चुका है, अब यहाँ तीनों प्रकृतियों (वात-प्रकृति, पित्त-प्रकृति और कफ-प्रकृति) वाले की मुख्य विशेषताएँ बताई जा रही हैं।

विभिन्न प्रकृतियों की विशेषताएँ

	वात प्रकृति[118]	पित्त प्रकृति[119]	कफ प्रकृति[120]
1.	शुष्क और खुरदरी त्वचा	शुष्क और कोमल त्वचा तथा त्वचा का सफेद या पीला रंग	चिकनी, कोमल, मुलायम त्वचा गोरा रंग
2.	दुर्बल शरीर	मध्यम बल वाला शरीर	गठीला और मांसल शरीर शक्तिमान
3.	छोटा क़द	दुर्बल मांसपेशियाँ	और स्थूल (मोटा) शरीर
4.	बालों, नाखूनों दाँतों, पैर के तलुओं और हथेलियों में खुरदरापन	सन्धियों में शिथिलता	दृढ़ सन्धियाँ
5.	कण्डराओं और शिराओं का उभरा होना	अधिक काले तिल	माथा, छाती और भुजाएँ उभरी हुई
6.	शरीर के विभिन्न अंगों का फटा होना ।	चेहरे तथा दूसरे अंगों में बहुत अधिक गर्मी का अनुभव होना	
7.	शरीर, दाढ़ी तथा सिर में बालों की कमी	कम मात्रा में तथा लालिमायुक्त भूरे बाल	घने घुंघराले और काले बाल
8.	किनारे से टूटे (दो मुखी) और भूरे बाल	समय से पूर्व त्वचा में झुरियाँ पड़ना और बालों का पकना, गंजापन	
9.	सूखे (शुष्क) और तन्द्रायुक्त या निद्रालु नेत्र	छोटे और लालिमायुक्त नेत्र, कम पलकें	बाहरी किनारों पर लाल रंग लिये हुए सफेद नेत्र, बड़े और सुन्दर नेत्र
10.		उत्साह की अधिकता	घनी पलकें
11.		शरीर से दुर्गन्ध आना	
12.		नाखूनों, नेत्रों, जिह्वा, तालु पैर के तलुवों, हथेलियों एवं अन्य अंगों का काले जैसा रंग।	

मिश्रित प्रकृति वालों (जैसे - वात पित्त-प्रकृति, पित्त कफ-प्रकृति आदि) में दोनों प्रकृतियों की विशेषताएँ मिली होती हैं।[121] वात प्रकृति वाले व्यक्ति में वातिक रोग, पित्त प्रकृति वाले में पैत्तिक रोग, तथा कफ प्रकृति वाले में कफज रोग शीघ्रता से और आसानी से आक्रमण करते हैं। विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति को चाहिए कि उस विशेष दोष को बढ़ाने वाले आहार विहार का सेवन न करे। इसके विपरीत उस आहार विहार का सेवन करे जो उस दोष को शान्त करने वाला हो।

प्राय: देखा जाता है कि बल, जीवन (आयु की अवधि), संतान, ज्ञान, जीवन की सुविधाएं और धन आदि वात प्रकृति वाले व्यक्ति को कम मात्रा में, पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को मध्यम मात्रा में तथा कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को उत्तम मात्रा में होती है।

अपनी प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त करना जहाँ स्वयं व्यक्ति के लिए उपयोगी है वहीं चिकित्सक के लिए भी रोगी की प्रकृति को जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि किसी भी रोग का उपचार करते समय प्रकृति को ध्यान में रख कर ही औषधि, आहार-विहार आदि का निर्देश दिया जाता है। रोग के लक्षण एक समान होने पर जहाँ पित्त प्रकृति के व्यक्ति को शीतल गुण, वीर्य, विपाक वाली औषधियाँ व आहार आदि लेने का निर्देश चिकित्सक देता है, वहीं कफ प्रकृति के व्यक्ति को उष्ण गुण, वीर्य विपाक वाली औषधियाँ प्रदान करने का निर्देश देता है क्योंकि ऐसी औषधियाँ उस उस रोगी के लिए अधिक अनुकूल एवं लाभदायक होती हैं जबकि पित्त प्रकृति के व्यक्ति को गर्म औषधियाँ तथा कफ प्रकृति व्यक्ति को ठण्डी औषधियाँ ग्रहण कराने से रोग में वृद्धि अथवा कोई उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कुनैन (जिसका प्रयोग मलेरिया में किया जाता है) कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है। वात प्रकृति वाले के लिए अनुकूल नहीं हो सकती, परन्तु पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति में उपद्रव पैदा कर देती है। इस प्रकार प्रकृति का ज्ञान आयुर्वेदीय चिकित्सा का अत्यन्त आवश्यक अंग है।

---

117. प्रकोपे वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वाभावेन जायते तु गतामुषः ।। — सु.शा. 4/77

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।।
तद्वत्प्रकृवमो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ।। — सु.शा. 4/78

118. अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः
आकाशचारी स्वपनेषु, वात प्रकृति को नरः ।। — शा.पू. 6/20

119. अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमन स्वेदी च रोषणः ।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा, पित प्रकृतिको नरः ।। — शा.पू. 6/21

120. गम्भीर बुद्धिः स्थूलाङ्ग स्निग्धकेशो महाबलः ।
स्वप्ने जलाशया लोकी, श्लेष्म प्रकृति को नरः ।। — शा.पू. 6/22

121. द्वयोर्वा तिसृणांवापि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजो वैद्यः प्रकृतीरभिनिद्दिशेत् ।। — सु.शा. 4/76

7. सात धातुएँ

शरीर के निर्माण करने वाले तत्वों में धातुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर के मौलिक ऊतक तत्त्व (tissue-elements) हैं। चूंकि ये तत्त्व शरीर का पोषण और धारण करते हैं, तथा संयुक्त रूप से शरीर के मूलभूत रचना में सहायक होते है, अतः धातु कहलाते है।[122] ये संख्या में सात है :

1. रस अथवा लसीका (Chyle या Plasma)
2. रक्त का हीमोग्लोबीन अंश (Blood)
3. माँस (muscle tissue) तन्तु
4. मेद या वसा (fat tissue) चर्बी या चिकनाहट
5. अस्थि या हड्डी (Bone-marrow) अस्थि-तन्तु और कण्डराएँ
6. मज्जा या अस्थि मज्जा (Bone-marrow), हड्डी के अन्दर का भाग
7. शुक्र (पुरुषों में) शुक्राणु (sperm), एवं स्त्रियों में अण्डाणु या (ovum)

इन सातों धातुओं का निर्माण भी दोषों की भाँति पाँचों महाभूतों के मिश्रण से होता है, परन्तु सभी धातुओं में एक-एक महाभूत की प्रधानता होती है।[123]

धातुः रस रक्त मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र प्रधान महाभूत जल तेजस् पृथ्वी पृथ्वी वायु (अस्थि निर्माण) अग्नि जल आकाश (छिद्र खोखलापन) जाठराग्नि (पाचक-अग्नि)[124] से जो भोजन का पाचन होता है उसी क्रिया के फलस्वरूप इन धातुओं की उत्पत्ति होती है क्योंकि इस पाचक अग्नि (digestive enzymes) से भोजन दो भागों में बंट जाता है- सार और किट्ट (मल)। इनमें सार भाग ही व्यान वायु की सहायता से सारे शरीर में पहुंचता है, जिससे रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण और पोषण होता है अर्थात् भोजन के सार भाग से सबसे पहले रस धातु का निर्माण होता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से

---

122. देहधारणाद् धातवो. — च.सू. 28/4 पर चक्रपाणि
धातुवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्चन्ते ।। — -अ.सं.सू.1 में इन्दुस
धातवो रस रक्त मांस मेदोयज्जशुक्राणि तेषामपि शरीरधारकत्वात् ।। — सु.चि.5/21 पर हल्हण
रसासृङ्गमांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्राणि धातवः । सप्त दूष्याः।। — अ.ह.सू. 1/13

123. तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पितस्याग्निः कफस्यापः रक्तं तेजाजलात्मंक, मांस पार्थिवं, मेदा जलपृथिव्यात्मकय्, अस्थि पृथिव्यतिलात्यंक, मज्जा शुकं चाप्यं । — चक्रप्राणि
सु.स् 14/11 हल्हण

124. तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसःप्रणियिता।
सप्तभिर्देहधातारो धातवो दिविध पुनः ।
यथास्वभग्निभिः पांक यान्ति किट्टप्रसादवत् ।।
रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थनो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।। — च.चि. 15/15-16
रसाद्रक्तं ततो मांस मांसन्मेदः प्रजायते ।
मेदेसाऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्र तु जायते ।। — सु.सू. 14/10

मज्जा, मज्जा से शुक्र का निर्माण और पोषण होता है। दोषों की तरह यह धातु भी शरीर में एक निश्चित मात्रा में रहती है जब इनमें विषमता आती है, तो शरीर में विकार उत्पन्न होते है।

इन धातुओं में विषमता दोषों की विषमता से आती है। जब दोष प्रकुपित होकर किसी धातु को प्रभावित करता है, तो रोग की उत्पत्ति होती है। चूंकि दोष धातु को दूषित करता है, अतः धातु को दूष्य (दूषित करने वाला) कहा जाता है। जिस धातु के दूषित होने से रोग की उत्पत्ति होती है, वह रोग उसी नाम वाला कहलाता है। जैसे - रस के दूषित होने से रसज रोग, रक्त से रक्तज रोग, मांस से मांसज रोग, मेद से मेदोज रोग, अस्थि से अस्थिज रोग, मज्जा से मज्जा गत रोग, तथा शुक्र से शुक्रज रोग।[125]

इन सभी धातुओं के स्वाभाविक गुण कर्मों सहित इनके विकारों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है:

♦ रस धातु :

सामान्य कर्म : इसका मुख्य कार्य प्रीणन अर्थात् बढ़ाना है। यह सन्तुष्टि और प्रसन्नता प्रदान करता है तथा अपने अगले धातु रक्त का पोषण करता है।[126]

वृद्धि के लक्षण : कफ : प्रकोप के समान लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे-पाचन शक्ति की कमी, जी मिचलाना, अधिक लार टपकना, वमन (उलटी), आलस्य, भारीपन, अंगों का सफेद रंग, शीतलता, अवयवों में शिथिलता, श्वास, खाँसी और अधिक नींद।[127]

क्षय के लक्षण : मुख तथा दूसरे अंगों में शोष (सूखना), थकान, रूक्षता (रूखापन) अधिक प्यास, शब्द की असहिष्णुता (ऊँची आवाज सहन न कर पाना), हृदय की तेज़ गति, हृदय में दर्द, आमाशय, हृदय आदि अंगों में खालीपन महसूस होना, ग्लानि तथा सांस में तेज़ी, और अन्य धातुओं में कमी।[128]

---

125. दोष दूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा-रसजोऽयं, शोणितोजऽयं, मांसजेऽयं, मेदोजोऽयं अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति । — सु.सू. 24/8

126. रसस्तुष्टि प्रीणंन रक्त पुष्टि च करोति, — सु.सू. 15/7
रसे रोदयं श्रमः शोषा ग्लानिः शास्दासहिष्णुता (अरुणदत्त)

127. रसोऽति वृद्धौ हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति ।। — सु.सू. 15/19
श्लेष्मा (वृद्धो)ऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ।
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वंश्वासकासातिनिद्रताः।।
रसोऽपि श्लेष्मवद्रक्तं विसर्पप्लीहाविद्रधीन् - — अ.हृ.सू. 11/7-8
आलस्य अनुत्साहः । गौरवं दुर्वहाङ्गत्वम् । शैत्यं शीतस्पर्शम् ।
श्लथा ङ्गत्वम् अवयव शैथिल्यम् ।। — अरूणदत्त

128. घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवृति शूल्यते ।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ।। — च.सू. 17/64
रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च ।। — सु.सू. 15/13
रसे (क्षीणे) रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता ।। — अ.हृ.सू. 11/17

रस धातु के प्रकोप और क्षय के कारण कफ दोष के प्रकोप और क्षय के कारणों के समान ही हैं।

रसज रोग : रस की वृद्धि से भूख न लगना, अरुचि (कुछ अच्छा न लगना), आस्यवैरस्य (मुँह का बुरा स्वाद), अरसज्ञता (स्वाद का पता न लगना) हल्लास (जी में पीड़ा), ज्वर, मूर्च्छा, स्रोतों में रुकावट, नपुंसकता, पीलापन, दुर्बलता, दुबलापन, अग्निनाश (पाचनशक्ति की कमी), त्वचा पर जल्दी झुर्रियां पड़ना, बालों का शीघ्र पक जाना।[129]

♦ रक्त धातु :

सामान्य कर्म : जीवन प्रदान करने वाला और प्राणों को धारण करने वाला है। यह रंग को निखारता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी रक्त के कारण ही सम्भव है। रक्त मांस धातु की पुष्टि करता है।[130]

वृद्धि के लक्षण : शरीर की त्वचा और नेत्रों में लालिमा तथा रक्तवाहिनियों की पूर्णता (परिणामतः उच्च रक्तचाप) के लक्षण दिखाई देते हैं।[131]

रक्त की वृद्धि होने पर रक्तमोक्षण और विरेचन कर्म का प्रयोग करना चाहिए।[132]

क्षय के लक्षण : रक्त वााहिनियाँ शिथिल और क्षीण हो जाती हैं। अग्निमान्द्य, वायु का प्रकोप तथा त्वचा रूक्ष, कान्तिहीन व सख्त होती है। रोगी को अम्ल और शीतल पदार्थ रुचिकर लगते हैं।[133]

जिन कारणों से पित्त का प्रकोप और क्षय होता है, उन्हीं कारणों से रक्त का भी प्रकोप और क्षय होता है।

---

129. अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता । हल्लासो गौरवं तन्द्रा सांङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ।।
पाण्डुत्वं स्त्रोतसां रोधः कैल्व्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽसेरथाकालं बलयः पलितानि च । रसप्रदोषजा रोगाः ।। **च.सू. 27/9-10**

130. रक्तं वर्णप्रसादं मांस पुष्टिं जीवयति च । **सु.सू. 14/21**
तेषां (धातूनां) क्षयवद्धी शोणितनिमित्ते ।।
तद्विशुद्धं हि रूधिरं बलवर्णसुखायुषा । **च.सू. 24/4**
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ।।
धातूनां पूरंणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।। **सु.शा. 7/14**
स्वाः शिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्याम् गुणानपि ।।
देहस्य रूधिरं मूलं रूधिरेणैव धार्य्यते । **सु.सू. 14/44**
तस्माघत्नेन सरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ।।

131. रक्तं रक्ताङ्गक्षितां सिरापूर्णत्वं चापादयति ।।

132. कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्त पित्तहरीं क्रियाम् । **च.सू. 24/18**
विरेकमुपवासंच स्त्रावणं शोणितस्य च ।।

133. धातुक्षयात् स्त्रुते रक्ते मन्दः सजांयतेऽनलः ।
पवनश्च परं कोप यति ।।

रक्तज रोग :

कुष्ठ (कोढ़ आदि चमड़ी के रोग), विसर्प (लाल चकते या फफोले), पिडका (छोटे फोड़े फुंसियाँ), रक्तपित्त (शरीर के अंगों से रक्तस्राव), रक्त प्रदर (स्त्री के जनन अंगों से रक्तस्राव), मेढ्रपाक (लिंग का पकना), मुखपाक (मुँह में छाले आदि होना), प्लीहा वृद्धि (प्लीहा के आकार में वृद्धि), गुल्म (पेट में गोला), वद्रधि (बड़ा फोड़ा), नीलिका (तिल), कालक (काले तिल), झाइयां, दाद, चर्मदल (एक प्रकार की चमड़ी की बीमारी), श्वित्र (सफेद दाग या फुलबहरी), पामा (खुजली), कोठ (लग्न दाने, छाले आदि), अस्रमण्डल (लाल चकते), कामला (पीलिया), उपकुश (एक प्रकार का दांतों का रोग), वातरक्त (जोड़ों का एक प्रकार का रोग) और मूत्र में लालिमा होना।

इन रोगों की चिकित्सा के लिए रक्तमोक्षण (शरीर से रक्त स्राव कराना) तथा विरेचन श्रेष्ठ उपाय है।[134]

♦ मांस धातु :

सामान्य कर्म : मांस धातु का मुख्य कार्य है : लेपन अर्थात् उपदेह या मकान में सीमेंट या मिट्‌टी के लेप की तरह शरीर का लेपन करना। यह शरीर को पुष्टि प्रदान करता है। इससे अगली धातु मेद (चर्बी) का निर्माण होता है।[135]

वृद्धि के लक्षण :

गर्दन, नितम्बों (hips) गालों, होठों, जंघाओं, बाहुओं, टाँगों, पिण्डलियों, पेट, छाती, आदि में मांस बढ़ने से मोटापा आ जाता है और शरीर में भारीपन आता है।[136]

मांस की वृद्धि होने पर मांसहर क्रियाओं (जैसे-संशोधन क्रिया, रात्रि जागरण आदि) को अपनाना चाहिए और घी, तेल, वसा आदि स्निग्ध पदार्थो और चीनी व उससे बनी मिठाइयों आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।[137]

क्षय के लक्षण : ''मांस की कमी से उपर्युक्त अंगों में क्षीणता (दुबलापन), शरीर में रूक्षता (रूखापन), थकावट, चुभने की सी पीड़ा, धमनियों (रक्तवाहिनियों) की क्षीणता आदि उत्पन्न होते हैं।[138]

मांस वृद्धि के लिए प्रोटीन युक्त पदार्थ, जैसे दूध, दूध से बने पदार्थ, मूंग, चना आदि

---

134. कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्त पित्तहरी क्रियाम् ।
विरेकमुपवाससश्च स्त्रावणं शोणितस्य च ।। च.सू. 24/18

135. मांस शरीरपुष्टि मेदसश्च (पुष्टिं करोति) ।। सु.सू. 15/7 (1)

136. मांस (अतिवृद्धं) स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरूबाहुजङ्घानु
वृद्धिं गुरुगात्रतां च (आपादयति) ।। सु.सू. 14/15

137. तेषां यथास्वं सशोधनं क्षपणञ्च क्षयादविरुद्वैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत । सु.सू. 15/22

138. मांसक्षये स्फिग्गण्डोष्ठोपथोरुवक्षः कक्षापिण्डिकोदरग्रीवा
शुष्कतारौक्ष्य तोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च ।। सु.सू. 15/13
मासक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ।। च.सू. 17/65

धान्यों के ताजे अंकुर लेने चाहिए। मांसाहारी लोगों के लिए मांस और मांस रस उपयोगी है।

मांसज रोग : ऊरुवृद्धि (जंघाओं के मांस में वृद्धि), गलगण्ड गण्डमाला (गले की ग्रन्थि में वृद्धि), जिह्वा, तालु, कण्ठ, आदि में अधिमांस (मांस के ऊपर मांस) गलशुण्डिका (टान्सिल्स), अर्बुद (ट्यूमर), कील (मस्से), उदरवृद्धि (पेद का बढ़ना), गण्ड (गिल्टियाँ), गलशालूक (भोजननली–ग्रसनी–का एक रोग) पूतिमांस (मांस का सड़ना), अलजी (चमड़ी का एक रोग)।[139]

चिकित्सा : मांसज रोगों की चिकित्सा के लिए शल्य कर्म (चीरफाड़ आदि), क्षार कर्म (alkalies) और अग्नि कर्म (Cauterization) उपयोगी है।

♦ मेद धातु :

सामान्य कर्म : इसका मुख्य कार्य स्नेहन अर्थात् शरीर में स्निग्धता (चिकनाहट) और उष्णता प्रदान करना है। यह हड्डियों में दृढ़ता और स्थिरता लाता है। इससे अगली धातु 'अस्थि' का निर्माण होता है।[140]

वृद्धि के लक्षण : शरीर में बहुत अधिक चिकनाहट और मांस वृद्धि जैसे लक्षण (गण्डमाला, उदरवृद्धि, आदि) उत्पन्न होते है। कास, थोड़े से परिश्रम से ही श्वास और थकान, नितम्ब, स्तन और पेट का लटकना, शरीर में से दुर्गन्ध आना आदि।[141]

मांस वृद्धि होने पर जो सावधानियाँ उल्लिखित हैं, उन्हें अपनाना चाहिए।

क्षय के लक्षण : सन्धियों में टूटने की सी पीड़ा और शून्यता की अनुभूति, मुरझाई सी आँखें, त्वचा, बालों और कान आदि अंगों के मार्गो में रूखापन, थकान, उदर व शरीर के दूसरे अंगों का पतला होना, कमर में स्पर्श का ज्ञान न होना, प्लीहा वृद्धि। रोगी की इच्छा वसायुक्त मांस का सेवन करने की होती है।[142]

कृशता (दुर्बलता) दूर करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।[143]

मेदज रोग : मुंह का मीठा स्वाद, हाथ-पैरों में जलन, बालों का उलझा होना या जटाएँ बन जाना, मुख, कण्ठ व तालु सूखना, आलस्य,

---

139. अधिमांसा बुदाशोंऽधिजिह्वेपजिह्वोपकगलशुण्डिकालनीमांससघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजा:।। सु.स्. 25/12
शोणित क्षये त्वक्पारुष्यमम्ल शीत प्रार्थना सिरा शैथिल्यंचा ।। सु.स्. 15/13
परुषा स्फुटिताम्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये ।। च.स्. 17/64
140. मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्यां च (करोति) ।। सु.सू. 15/7 (1)
141. मेदः (अतिवद्धं) स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धि कासश्वासादीन दौर्गन्ध्यंच।। सु.सू. 15/19
142. सधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वचोदरस्य च।। च.सू. 17/66
143. तत्रापि स्वयोनवर्धनद्रव्योपयोगः।। सु.सू. 6/10
मेदो मेदसा (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः)।। च.शा. 6/10

बहुत अधिक प्यास, शरीर से मल पदार्थो (पसीना, आदि) का अधिक मात्रा में निकलना, शरीर के छिद्रों से अधिक स्राव, अंगदाह (शरीर में जलन), शरीर का सुन्न पड़ना आदि।[144]

उपचार : जब रोग मेद धातु की अधिकता से हों, तो स्थूलता (मोटापे) की अर्थात् अपतर्पण (उपवास आदि जिससे पतलापन आये) से चिकित्सा करनी चाहिए और मेद की कमी से उत्पन्न रोगों में कृशता (दुबलेपन) की संतर्पण चिकित्सा (अर्थात् वसा एवं स्निग्ध पदार्थो आदि का सेवन) करना चाहिए।

♦ अस्थि धातु :

सामान्य कर्म : शरीर को धारण करना। इसी के आधार पर शरीर व उसके अंगों के आकार का निर्माण होता है और शरीर खड़ा रहता है।[145]

वृद्धि के लक्षण : हड्डियाँ सामान्य आकार से अधिक मोटी और बढ़ी, बालों और नाखूनों में शीघ्र वृद्धि तथा अधिदन्त (अधिक दाँत)।[146]

क्षय के लक्षण : अस्थियों और सन्धियों में दर्द, सुन्नता तथा रूखापन, दातों और नाखूनों का टूटना व रूखापन, बालों, लोम (छोटे बालों) और दाढ़ी के बालों का झड़ना, तथा सन्धियों में ढीलापन।[147]

अस्थिजन्य रोग : अध्यस्थि (अधिक अस्थि या अस्थि में अधिक वृद्धि), अधिदन्त (दाँतों का असामान्य रूप से बढ़ना) हड्डियों और दातों में तेज़ पीड़ा, बाल, लोम और श्मश्रु (दाढ़ी) के रोग तथा नाखूनों के विकार।[148]

उपचार : अस्थि वृद्धि होने पर तिक्त द्रव्यों से तैयार बस्ति देनी चाहिए। अस्थिक्षय से होने वाले

---

144. ग्रन्थि वृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठ प्रकोप मधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेद प्रभृतयो मेदो दोषजाः।। सु.सू. 24/9

145. अभ्यन्तरगतै सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिना ध्रुवम् ।। सु.शा. 15/23
यस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मासेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ।। सु.शा. 5/21

146. अस्थि (अतिवृद्धं) अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्ताश्च (आपादयति) ।। सु.सू. 15/19
डल्हण

147. चकारात् केशनखश्मश्रुरति वृद्धिर्ज्ञेया ।।
अस्थिक्षयेऽस्थिशूलदो दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च ।। सु.सू. 15/13
दन्तभङ्गोऽपि तत्प्रभवास्थिक्षयादेव ।। (चक्रपाणि) (डल्हण)
रौक्ष्यं देहस्य दन्तनखानां च ; दन्तार्दाना मस्थिमयत्वाद् भङ्गः ।।
केशलोमनखशमश्रु द्विजप्रपतनं श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिंङ्ग. सन्धिशैथिल्यमेव च ।। च.सू. 17/67
बालः सवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति ।
स फस्क इति विज्ञेयः ।। का.वि.

148. अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता ।
केशलोमनखशमश्रु दोषाश्चोस्थिप्रदोषजाः ।। च.सू. 28/16

रोगों में दूध, मट्ठा, पनीर, तक्र (दही की लस्सी) सूखे मेवे, मूंग चना आदि दालें, ताज़े फल व पत्ते वाली सब्जियाँ, विटामिन डी एवं सूर्य की रोशनी, तिक्त द्रव्यों से पका दूध और घी उपयोगी है। मांसाहारी लोग अस्थि के समान पदार्थ (जैस - कछुए की पीठ की भस्म, आदि) ले सकते हैं।[149]

♦ मज्जा धातु :

सामान्य कर्म : सभी प्रकार की अस्थियों के अन्दर उनके खाली स्थानों और छिद्रों में मज्जा धातु भरी रहती है। दूसरे शब्दों में, इस धातु का कार्य अस्थियों का स्नेह से पूरण करना (भरना) है। इस प्रकार यह शरीर में स्निग्धता और बल की वृद्धि करता है।[150]

वृद्धि के लक्षण : सारे शरीर और विशेषकर नेत्रों में भारीपन तथा हड्डियों के जोड़ों में बड़े बड़े और कष्टसाध्य (कठिनाई से ठीक होने वाले) फोड़े फुसियाँ होना।[151]

क्षय के लक्षण : हड्डियों में खोखलापन, हड्डियों और जोड़ों का टूटना, आकार में छोटा और दुर्बल, चक्कर आना तथा आंखों के आगे अंधेरा छा जाना एवं शुक्र धातु की कमी।[152]

मज्जा जन्य रोग : अंगुलियों के जोड़ों में दर्द व उनके अन्दर फोड़े होना, चक्कर, मूर्च्छा (बेहोशी) तमस् (आँखों के आगे अन्धेरा छा जाना)।[153]

उपचार : मज्जा का क्षय होने पर मज्जा का पान करना चाहिए।

♦ शुक्र धातु :

सामान्य कर्म : शुक्र अन्तिम धातु और सब धातुओं का सार माना जाता है। इसका प्रमुख कार्य गर्भोत्पत्ति अर्थात् सन्तान-उत्पत्ति में सहायता करना है। धैर्य, शूरता, निडरता, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण (पुरुष का स्त्री और स्त्री का पुरुष के प्रति), उत्साह, पुष्टि, काम का वेग,

---

149. वस्तय: क्षीरसर्पीषि तिक्तकोपहितानि च ।। — च.सू. 28/26
अस्थिक्षयज्ञान् वस्तिभि: तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिभि: ।। — अ.संग्रह

150. मज्जा प्रीति (प्रीति) स्नेंह बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थनां च करोति — सु.सू. 15/7
मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च,
महत्सु च मज्जा भवति ।।
स्थूणास्थिषु विशेषण मज्जा त्वभ्यन्तरीश्रत: ।।

151. मज्जा (ऽविवृद्ध:) सवङ्गि.नेत्रगौरवं च (आपादयति) ।। — सु.सू. 15/19
तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूल मूलारूर्जन्यनेत्राभिष्यन्द प्रभृतयो यज्जदोषजा: ।। — सु.सू. 24/6

152. मज्जक्षयऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनि स्तोदोऽस्थिशून्यता च । — सु.सू. 15/13
शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघुनि च ।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जानि देहिनाम् । — च.सू. 17/68

153. रुक्र पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसतथा ।
अरूषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ।।
मज्जाप्रदोषात् ।। — च.सू. 28/17

सम्भोग के समय सुखच्युति (आसानी से वीर्य का विसर्जन), आदि इसके अन्य कार्य हैं।[154]

वृद्धि के लक्षण : शुक्र की अधिक मात्रा में स्राव, कामवासना की अधिकता तथा शुक्राश्मरी (शुक्रमार्ग में पथरी) के लक्षण दिखाई देते हैं।[155]

क्षय के लक्षण : दुर्बलता, कार्य करने का सामर्थ्य न होना, मुख सूखना, रक्त की कमी (anaemia), थकान, नपुसंकता तथा सम्भोग के समय शुक्र का स्राव न होना। अण्डकोशों में अत्यधिक पीड़ा, लिंग में जलन।[156]

शुक्रज रोग : नपुंसकता, अहर्षण (मैथुन की इच्छा का अभाव), रोगी संतति (रोगी बच्चे की उत्पत्ति), क्लीव-संतति (नपुसंक बच्चे को जन्म देना), अल्पायु संतति (कम आयु वाले बच्चे को जन्म देना) तथा विरूप संतति (अपंग या विकृत बच्चे को जन्म देना)।[157]

उपचार : शुक्र की अधिकता होने पर अधिक सम्भोग तथा शुक्र को कम करने वाले (कटु, तिक्त रस वाले) पदार्थो का सेवन करना चाहिए तथा शुक्र की कमी होने पर वृष्य (शुक्र बढ़ाने वाले) पदार्थो और औषधियों (मधुर रस वाले) का सेवन करना चाहिए।

धातुओं की वृद्धि और क्षय : रस आदि सातों धातुओं की वृद्धि और क्षय पाचक अग्नि की स्थिति पर निर्भर करते हैं।[158] तेरह प्रकार की अग्नियों में सात धातु अग्नियाँ हैं। यदि ये धातु अग्नियाँ साम्यावस्था में होंगी, तो रस आदि धातुएँ भी सम अवस्था में रहेंगे।[159] यदि ये अग्नियाँ बहुत बढ़ी हुई (तीव्र) हैं, तो धातुओं का क्षय होने लगेगा क्योंकि तीव्र होने पर ये अग्नियाँ धातुओं का पाचन अधिक मात्रा में करेंगी। इसके विपरीत, यदि धातु अग्नियाँ मन्द

---

154. शुक्रं धैर्य च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्ष (करोति) बीजार्थञ्च ।। — सु.सू. 15/7
धैर्य शौर्यं शूरत्वं, अत एवं क्लीवा अधीराः ।
देहबल मुत्साहोपचय लक्षणम् ।। — डल्हण
155. शुंक्र (अतिवृद्धं) शुक्राश्मरीऽतिप्रादुर्भावं च (आपादयति) ।। — सु.सू. 15/8
156. दौर्बल्य मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः ।
क्लैष्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीण शुक्रस्य लक्षणम् ।। — च.सू. 17/69
शुक्रक्षये मेढ्रवृषण वेदनाऽशक्ति मैथुने चिराद्वा
प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्र दर्शनम् ।। — सु.सू. 15/13/ सु.शा. 4/12/13
157. शुक्रस्य दोषात् क्लैव्यमहर्षणम् ।
रागि वा क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ।। — च.सू. 28/18
न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्र हि दुष्टं सापत्यं सादंर बाधते नरम् ।। — च.सू. 28/19
क्लैव्या प्रहर्ष शुकाश्मरी शुक्र दोषादयश्च तद्दोषजाः ।। — सु.सू. 24/7
158. भौतिकाः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः ।
किवा, अप्रधान्यदन्यान्यकिविंत्कराणि नोक्तानि ।। — चक्रपाणि
159. स्वस्थानस्य कायाग्नेरशां धातुषु संश्रिता।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातु वृद्धिक्षयोद्रवः ।। — अ.ह.सू. 11/34

(क्षीण) है तो इनसे धातुओं का पाचन ठीक प्रकार नहीं हो पाएगा, परिणामतः धातुओं की वृद्धि होगी। एक धातु की वृद्धि या क्षय होने पर उसके आगे वाली धातु में भी वृद्धि या क्षय के लक्षण दिखाई देंगे।[160] अतः धातु साम्य (धातुओं को सम अवस्था में रखने) के लिए धातु अग्नियों को सम अवस्था में रखना आवश्यक है।

8. ओजस्

उपर वर्णित रस धातु से लेकर शुक्र धातु के निर्माण की समस्त प्रक्रिया में एक सार तत्त्व उत्पन्न होता है, जो ओज कहलाता है।[161] यह ओज समस्त धातुओं का उत्कृष्ट तेज या सार माना गया है, चिकित्सकीय भाषा में इसे बल भी कहा जाता है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ फूलों के सार (पराग) से शहद एकत्र करती है,[162] ठीक उसी प्रकार पाचक पित्त और अग्नियाँ धातुओं के सार से ओज को एकत्र करती है। इसका पोषण भी धातुओं के समान आहार रस से ही होता है। यह शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी विशेष रूप से हृदय में रहता है[163] और हृदय से निकलने वाली धमनियों एवं उनकी शाखा प्रशाखाओं के माध्यम से सारे शरीर में फैल जाता है।

ओज स्निग्ध, सोम स्वरूप, रक्ताभ (लाली से युक्त), पीताभ (पीलापन लिए) व श्वेत वर्ण का होता है। यह दो प्रकार का माना गया है[164] 1. पर और 2. अपर । इसमें पर ओज की मात्रा आठ बिन्दु है और यह हृदय में रहता है। इसका पूर्णतः क्षय हो जाने से मृत्यु हो जाती है।[165] अपर

---

160. ''समदोषाः समाग्निश्च समधातुः मलक्रिया ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभीधीयते ।।'' — सु.सू. 15

161. रसादीनां शुक्रान्तानां धातुनां यत्परं तेजस्तत्
खल्वोजस्वदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्र सिदान्तात् ।। — सु.सू. 15/23
तदैव सर्वान् धातुननुप्रविष्टं तेषा प्रभावविशय -
मादधानं तत्तेज उच्यते ।। — अ.ह.सू. 11/37

162. तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ।। — च.सू. 30/7
तेन् भूलेन महता महामूला मता दश ।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ।।

163. भ्रमरैः फलपुल्पेभ्यो यथा सभ्रियते मधु ।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः सभ्रियते नृणाम् ।। — च.सू. 17/16

164. रसवातादिमार्गाणां सत्वबुद्वीन्द्रियात्मनाम् ।
प्रधानस्यौजसश्चैव हदयं स्थानमुच्यते ।। — च.चि. 24/35

165. प्राणाश्रयस्यौजसौऽष्टौ बिन्दवो हद्रयाश्रिताः इति
अर्धाज्जली परिमितस्यांजसो ध्मन्य एवं हदयाश्रिताः स्थानम्

ओज की मात्रा आधी अञ्जलि है और यह सारे शरीर में व्याप्त रहता है। इसके क्षय से बल उत्साह आदि की कमी और रोग उत्पन्न होते हैं।

♦ **ओज के कार्य व महत्त्व :** ओज से शरीर में कान्ति और बल उत्पन्न होता है। सभी धातुओं का सार होने के कारण ही इसके अभाव में धातु भी (चाहे वे सम अवस्था में हों) शरीर को धारण नहीं कर पाती।[166] यही सभी धातुओं को स्थिर रखता और उनका उत्तरोत्तर पोषण करता है। सभी शारीरिक, मानसिक, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य करने का सामर्थ्य तथा मन बुद्धि व अंहकार के संकल्प, आदि सभी कार्य इसी ओज के कारण सम्पन्न होते हैं। यह स्वर और वर्ण को अच्छा बनाता है। शरीर में रोग प्रतिरोधी शक्ति भी इसी ओज से उत्पन्न होती है। सुख, दुखः आदि द्वन्दों में धैर्य, उत्साह, आदि ओज से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में यह ओज प्राणों का आधार है।

कुछ विद्वान ओज को उपधातु भी मानते हैं क्योंकि यह रस आदि धातुओं के समान शरीर को धारण तो करता है, परन्तु अल्प मात्रा में होने के कारण किसी विशेष धातु का पोषण नहीं कर पाता।[167]

♦ **ओज क्षय के लक्षण :** ओज का क्षय होने पर रोगी डरता है और सदा दूसरों के आगे दबा रहता है। उसका शरीर और मन बलहीन, मन बिना कारण चिन्ता ग्रस्त, इन्द्रियों (हृदय आदि) में पीड़ा, इन्द्रियाँ थकी हुई, शरीर कान्तिहीन (निस्तेज), कृश और रूक्ष, तथा मन दूषित होने से उत्साहहीन हो जाता है।[168]

♦ **ओजक्षय के कारण :** क्रोध, चिन्ता, भय, शोक, आदि मानसिक आवेग धातु क्षय (एक या अधिक धातु, दोष या मल का क्षय), उपवास या कम भोजन, रूक्ष खाद्य और पेय पदार्थो का प्रयोग, अधिक श्रम, रात्रि जागरण, किसी कारण से कफ, रक्त, शुक्र और मलों का अधिक मात्रा में विसर्जन, रोग के कारण दुर्बलता एवं बाहरी आघात आदि से ओज का क्षय होता है।[169]

♦ **ओजक्षय का उपचार :** मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, लघु तथा सात्म्य (अनुकूल) आहार,

---

166. तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघात:
स्वरवर्ण प्रसादो बाह्यनाभाभ्यन्तराणां कारणानामात्मकार्य प्रतिपत्तिर्भवति ।। **सु.सू. 15/25**

167. एतच्चौच उपधातुरूप केचिदाहु; धातुर्हि धारणपोषणयोगाद् भवति, ओजस्तु
देहधारंक सदपि न देहपोषंक तेन नाष्टमो धातुरोज: ।। **च.सू. 30/7 (चक्रपाणि)**

ओजोक्षय के लक्षण –

168. ओज: संक्षीयते कोपक्षुद्व यानशोक श्रमादिभि: ।
विभेति दुर्वलोडभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रिय ।। **38 अ.ह.**

169. अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुध: ।।
ओज: सङ्क्षीयते ह्येम्यो धातु गृहणनि सृतम् ।। **सु.सू. 15/28**

धातवो गृहन्ते यैस्तानि धातुगृहणानि स्त्रोतासि ओजोवाहिनि ।
किवां धातुगृहणस्त्रोत: स्थानतया धातुगृहणं हृदयम् ।। **चक्रपाणि**

दूध, मांसरस, जीवनीयगण की औषधियाँ, अश्वगन्धा आदि रसायन और वाजीकर (शुक्र को बढाने वाली) औषधियों का सेवन करने से ओज की मात्रा में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मन को हमेशा प्रसन्न रखने ओर अनुकूल आनन्ददायक आहार विहार के सेवन से भी ओज बढ़ता है।[170] इसके लिए पुरीष आदि मलों और धातुओं के स्रोतों को भी शुद्ध रखना चाहिए। ओज की वृद्धि होने पर शरीर की तुष्टि (सन्तोष) पुष्टि, प्रहर्ष और शक्ति बढ़ती है। इसकी अधिक मात्रा होने पर भी कोई विकार या रोग उत्पन्न नहीं होता।

बच्चों को ओज वर्धक आहार विहार विशेष रूप से देना चाहिए।

9. उपधातु

शरीर के वे अवयव जो शरीर का धारण तो करते है, परन्तु मात्रा में कम होने के कारण किसी अन्य धातु का पोषण नहीं करते, उपधातु कहलाते हैं जबकि धातु शरीर-धारण के अतिरिक्त अपने सार भाग से अगली धातु का पोषण भी करती है। धातुओं के साथ एक अंश में समता होने के कारण ही ये उपधातु कहलाते हैं।[171]

♦ उपधातुओं का पोषण :

जिस प्रकार रस धातु के सार (प्रसाद) भाग से अगले धातु रक्त का पोषण होता है, उसी प्रकार रस के इसी सार भाग से स्तन्य (दुग्ध) और आर्त्तव का भी पोषण होता है। अल्प मात्रा में होने के कारण आर्तव का पोषण एक मास में होता है, जबकि रक्त का पोषण तो सदैव होता रहता है।[172]

---

170. जीवनीयौषधक्षीररसाघास्तत्र भेषजम् ।। — अ.ह.सू. 11/41
मधुरस्निग्घशीतानि लघुनि च हितानि च ।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तमाद्वा बालास्थताऽऽशयेत् ।। — का.सू. 27/16
तन्महत् ता महामूलास्तच्चौज: परिक्षता ।
परिहार्या विशेषेण मनसो दु:खहेतव: ।। — च.सू. 30/13
ओजस्तु तेजो धातुनां शुक्रन्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् । — अ.ह.सू. 11/37
देह: सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देर्हिनाम् ।।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ।। — सु.सू. 15/26

171. ते च स्तान्यादयो धात्वन्तरापोषणाच्छरीपपोषका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते ।
रसादयस्तु शरीरधरकताया धात्वन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते ।। — चक्रपाणी

172. रसात् स्तन्य ततो रक्तमसृज कण्डरा: सिरा: ।
मांसाद्वेसा त्वच: षद् च मेदस: स्नायुसम्भव: ।। — च.चि. 15/17
रसादेव स्त्रियां रक्तं रज: संज्ञं प्रवर्तते — सु.सू. 14/7
सिरा स्नायुरज: स्तन्य त्वचो गतिर्विवर्जिता: ।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातव: ।। इति ।। — चकपाणि

इसी प्रकार रक्त धातु के सार अंश से मांस धातु के पोषण के साथ-साथ कण्डराओं (स्थूल स्नायुओं) और शिराओं का पोषण भी होता है। फिर मांस धातु के प्रसाद अंश से मेद धातु तथा मेद धातु के सार अंश से अस्थि धातु और उसके साथ-साथ सूक्ष्म स्नायुओं और सन्धियों का भी पोषण होता है।

इस प्रकार स्तन्य, आर्तव, कण्डराएँ, शिराएँ, वसा, त्वचा और स्नायु-ये सात उपधातु हैं। इन्हें उपधातु इसलिए भी कहा जाता है, क्योंकि ये धातुओं से उत्पन्न होती हैं। यहाँ महत्वपूर्ण तीन उपधातुओं त्वचा स्तन्य और आर्तव का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

♦ त्वचा[173]

त्वचा सारे शरीर को ढक कर रखती है। इसी की सहायता से शीत, उष्ण, भारी-हल्का, कठोर-मुलायम, आदि स्पर्शों का ज्ञान होता है।

♦ भौतिक रचना

पञ्चभौतिक होते हुए भी इसमें वायु महाभूत की प्रधानता होती है। यही कारण है कि यह वायु महाभूत के स्पर्श गुण को ग्रहण करती है।

♦ मुख्य कार्य :

स्पर्श का ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त त्वचा सारे शरीर को भी सामान्य बनाए रखती है। त्वचा लेप आदि द्रव्यों को शरीर के अन्दर पहुँचाती है और शरीर को कान्ति प्रदान करती है। स्वेद ग्रन्थियाँ भी त्वचा में ही रहती हैं।

♦ स्तन्य :

इस उपधातु का सम्बन्ध स्त्रियों से है। स्तन्य (स्त्री के स्तनों से उत्पन्न दूध) शिशुओं का सर्वोत्तम आहार और पोषण प्रदान करने वाला है अतः इसे जीवन कहा जाता है।[174] इसकी उत्पत्ति आहार-रस के मधुर (मीठे) रस वाले सार भाग से होती है और यह शुक्र के समान सारे शरीर में स्थित होता है। स्तन्य उत्पन्न होने पर स्त्री के स्तनों का आकार बढ़ जाता है। जो स्तन्य बर्तन में डालने पर जल में मिल जाता है, मधुर, पीलापन लिये हुए तथा गन्ध से रहित होता है, वह अच्छा, अविकृत (विकार से रहित), पोषक और स्वास्थ्य कारक माना जाता है। स्तन्य का क्षय होने पर कफज द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। जीरा, शतावरी आदि पदार्थ भी स्तन्य को बढ़ाते हैं। स्तन्य वृद्धि होने पर बढ़े हुए दूध का संशोधन (दबाकर या ब्रेस्टपम्प से निकालकर) करना चाहिए तथा लघु द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।[175]

---

173. एताः (त्वचः) षडङ्ग शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ।।
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ।। — च.शा. 7/4

174. स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति।।
जीवनं बलानां, तेषामेव स्त्रीक्षीरसात्मयत्वात्।। — सु.सू. 15/9 डल्हण

175. यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकि भवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्ण च प्रसन्न तद्विनिर्दिशेत्।। — सु.नि. 10/26
स्तन्यसम्पत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्।
उदमपात्रे दुहनमानमुदकं व्येति प्रकृति भूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यं चेति।।

♦ आर्त्तव[176]

यह भी स्त्रियों से सम्बन्धित उपधातु है। बाहरवें वर्ष के पश्चात् हर मास युवतियों के योनिमार्ग से रक्त का स्राव होता है, जिसे आर्त्तव, रजोदर्शन या मासिक धर्म कहा जाता है। सामान्यतः यह तीन से पाँच दिन तक रहता है। 40 से 50 वर्ष की आयु के बीच यह स्राव बन्द हो जाता है, जिसे रजोनिवृत्ति (Menopause) कहा जाता है।

इसका विशेष कार्य गर्भ की उत्पत्ति करना है। इसके गुण रक्त के समान है।[177] जो आर्त्तव माह में एक बार आए, जिसमें जलन या दर्द न हो, मात्रा में न बहुत कम और न बहुत अधिक हो, जिसका रंग गुञ्जापफल, लाख के रंग या लाल कमल के समान हो, वस्त्र को धोने से जो आसानी से साफ हो जाए, जिसमें पिच्छ (श्लेष्म कला के अन्दर के खण्ड या छिछले) न हों, तथा जो पांच दिन-रात से अधिक समय तक न रहे, वह शुद्ध आर्त्तव माना जाता है।[178]

अत्यधिक रक्तस्राव, शरीर में दर्द और दुर्गन्धयुक्त होने पर आर्त्तव की अधिकता मानी जाती है। इससे दुर्बलता और रक्तगुल्म होते हैं। इसके विपरीत कम रक्तस्राव या देर से आर्त्तव होने पर आर्त्तव क्षय हो जाता है इससे योनि में पीड़ा होती है।[179]

10. मल पदार्थ

जब शरीर में पाचक अग्नि के द्वारा भोजन का पाचन होता है तो भोजन के सार (प्रसाद) भाग से धातुओं का निर्माण और पोषण होता है, और असार (किट्ट) भाग से मल-पदार्थो (जैसे-पुरीष (मल), मूत्र, स्वेद, आदि) का निर्माण होता है। चूँकि ये पदार्थ शरीर को मलिन करते हैं, अतः ये मल कहलाते है।[180] वायु आदि दोषों से दूषित होने के कारण, इन्हें दूष्य भी कहा जाता है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए इन मल-पदार्थो का शरीर से बाहर निकलना बहुत आवश्यक है।

इन मल-पदार्थो में भोजन के असार भाग के अलावा चयापचय (Metabolic) क्रिया के बाद ऊतक-कोषों द्वारा निकाले गये व्यर्थ के पदार्थ, पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, मृत या निर्जीव

---

176. रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि ग्यंह स्त्रवेत्।
तद् वर्षाद् द्वदशादूर्ध्व याति पञ्चाशतः क्षयम्।। सु.स.

177. रक्तलक्षणमार्तव गर्भकृच्च।।

178. मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रनुबन्धि च।
नैवाति बहु नात्यल्पर्मातवं शुद्धमादिशेत्।। च.चि. 30/225

179. आर्तवम् (अतिवंद्व) अङ्ग.मर्दमति प्रवृति दौर्गन्ध्यं च (आपदयाति)
आर्तव वृद्वतया वातरोधादङ्ग.मर्द करोति।। (चक्रपाणी) च.सू. 15/16

180. मलिनीकरणादाहारमलल्वान्मला।। अ.ह.सू. 1/13

हो गई धातुएँ, अत्यधिक बढ़े हुए वायु, पित्त या कफ दोष तथा शरीर के लिए हानिकर एवं व्यर्थ के तत्व भी शामिल होते हैं। वैसे मल-पदार्थो का यह स्वभाव ही है कि एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर ये स्वयं ही शरीर से बाहर निकलने के लिए विसर्जक अंगों (मलाशय, मूत्राशय, आदि) की ओर गति करने लगते हैं। पुरीष (मल), मूत्र, पसीना (स्वेद), नाखून, बाल, दाढ़ी-मूँछ, लोम (शरीर के छोटे बाल), तथा नाक, कान, आँखों, मुख, आदि से निकलने वाले मैल, बलगम, आदि सभी मल-पदार्थ हैं। इनमें पुरीष, मूत्र और स्वेद-ये तीन महत्वपूर्ण मल-पदार्थ हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।[181]

♦ पुरीष (Stool)

पुरीष का निर्माण भोजन के असार भाग के साथ-साथ शरीर की ऊतकों (Tissues) द्वारा निकाले गये व्यर्थ के तत्वों के मेल से होता है। यही कारण है कि जिस व्यक्ति ने बहुत दिनों से कुछ खाया न हो, उसमें तथा गर्भ के अन्दर बढ़ रहे शिशु (जो कुछ भी नहीं खाता) में भी पुरीष का निर्माण होता रहता है। अतः ऊतक कोषों को स्वस्थ रखने के लिए शरीर से इस पुरीष का बाहर निकलना बहुत आवश्यक है। इसका ठीक तरह से विसर्जन न होने पर पेट के रोगों के साथ-साथ कमर दर्द (Lumbago), आमवात (Rheumatism), गृध्रसी (Sciatica), पक्षाघात (अधरंग या Paralysis), लकवा, कास (Bronchitis), तथा दमा जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यहीं कारण है कि इन सभी रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा में रोगी को सबसे पहले पेट साफ करने की औषधि दी जाती है। इसके अतिरिक्त, मल का विसर्जन ठीक प्रकार से न होने पर, आँतों में अनेक प्रकार के कीड़ों को पनपने के लिए अनुकूल वातावरण मिल जाता है। ये कीड़े शरीर को स्वयं भी हानि पहुँचाते हैं और अनेक बार ये शरीर के लिए लाभकारी जीवाणुओं (Bacteria) की वृद्धि को भी रोक देते हैं। इससे मनुष्य इन जीवाणुओं से होने वाले लाभ से वंचित रह जाता है। अतः शरीर से इस मल का ठीक प्रकार से त्याग होना स्वास्थ्य के लिए जरूरी है।[182]

♦ पुरीष के कर्म

पुरीष केवल मात्र मल-पदार्थ ही नहीं है, यह देह, वायु और अग्नि को भी धारण करता है।

---

181. किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्त मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः।। — च.चि. 15/18

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः।। — सु.सू. 46/57

182. पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च। — सु.सू. 15/8
पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीड़ा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ सञ्चरणं च।। — सु.सू. 15/15

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारूतः।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति।। — च.सू. 17/70

मनुष्य का जीवन पुरीष पर आधारित है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा के रोगी में सभी धातुओं का क्षय होने से उसके बल का पोषण पुरीष से ही होता है।[183] अतः पुरीष थोड़ा भी अधिक आने पर क्षय रोगी को बहुत अधिक दुर्बलता हो जाती है। इस कारण क्षय रोगी के लिए विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि अधिक मल न आये।

पुरीष अधिक मात्रा में आने पर पेट में शूल, अफारा, आँतों में गुड़गुड़ाहट तथा शरीर में भारीपन हो जाता है। अधिक भोजन खाने एवं अजीर्ण से पुरीष की मात्रा में वृद्धि होती है।[184]

जब पुरीष कम मात्रा में निर्मित होता है, तो वायु शब्द के साथ आँतों को ऐंठती हुई पेट में ऊपर की ओर जाती है। पुरीष का क्षय अतिसार (डायरिया), अधिक विरेचन (अधिक मल आना) और उपवास (कम खाने) से होता है।

पुरीष को बढ़ाने के लिए उड़द, जौ, पत्ते वाली सब्जियाँ, चोकर वाला आटा आदि रेशेवाले पदार्थो का सेवन करना चाहिए।[185]

♦ मूत्र (Urine)

मूत्र के माध्यम से शरीर के व्यर्थ के पदार्थ बाहर निकलते है। यह आहार के असार किट्ट या मल) भाग का तरल अंश होता है। यह शरीर की आवश्यकता से अधिक आर्द्रता (गीलेपन) को कम करता है तथा बस्ति को आर्द्र (गीला) और भरा रखता है।[186] स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए गर्मी और सर्दी, दोनों ऋतुओं में ही अधिक मात्रा में जल पीने पर बल दिया गया है ताकि व्यक्ति दिन में कम से कम छः बार मूत्र का त्याग अवश्य कर सके और इसके साथ हानिकारक पदार्थ भी शरीर से बाहर निकल जाएं।

बहुत अधिक मूत्र आना भी एक प्रकार का रोग है। मूत्र की अधिकता होने पर बस्ति में दर्द, भारीपन और बेचैनी, अधिक मात्रा में मूत्र आना, मूत्र का बार-बार वेग और बस्ति में अफारा हो जाता है। मूत्र के वेग को रोकने और मूत्र का वेग होने पर जल पीने से भी ये लक्षण प्रकट होते है।[187]

---

183. शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तञ्च जीवनम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्ये यक्ष्मिणो मलरेतसी। — यो.र.भै.र.
पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च। — सु.सू. 15/8

184. पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। — सु.सू. 15/20
कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनं शकृत।। — अ.ह.सू. 11/13

185. तत्रापि स्वयोनिवर्धन द्रव्योपयोगः प्रतिकारः।। — सु.सू. 15/14
पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्।। — च.शा. 6/11

186. आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जंल नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्।। — शा.पू. 6/6
पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति,
विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि।। — सु.सू. 21/10

187. मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं
बस्तितोदयमाध्मानं च। — सु.सू. 15/20

मूत्र की मात्रा में कमी होने से बस्ति-प्रदेश में चुभन-सी पीड़ा, कम मात्रा में मूत्र का विसर्जन या रुक-रुक कर मूत्र-विसर्जन, मूत्र-त्यागते समय दर्द, मूत्र का रंग बदल जाना (प्रायः अधिक पीला होना) या रक्त से मिश्रित मूत्र, अधिक प्यास एवं मुँह सूखना-ये लक्षण दिखाई देते हैं।[188]

गन्ने का रस, तरल पदार्थों, तथा मधुर, अम्ल व लवण रस वाले पदार्थों का सेवन करने से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है।[189]

♦ स्वेद या पसीना (Sweat)

स्वेद भी महत्वपूर्ण मल-पदार्थ है।[190] त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए पसीने का बाहर निकलना भी बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से भी बहुत से व्यर्थ के पदार्थों को शरीर से बाहर निकाला जा सकता है। पसीने की सहायता से ही त्वचा शरीर के तापमान को नियन्त्रण में रखती है और गर्मी व सर्दी, दोनों ऋतुओं में शरीर का तापमान एक-सा बना रहता है। अधिक श्रम, व्यायाम या गर्मी के कारण पसीना अधिक आता है। वायु लगने से त्वचा की गर्मी से यह पसीना भाप बन कर उड़ जाता है, जिससे त्वचा का तापमान कम हो जाता है। इसके विपरीत शीत ऋतु या शीत वातावरण में स्वेद कम आता है और शरीर का तापमान कम नहीं होता।

वैसे तो स्वेद का स्रवण हर मौसम में होता है, परन्तु अधिक स्राव होने पर और गर्मी वाले मौसम में ही इसका अनुभव होता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में पसीना आने पर त्वचा में दुर्गन्ध और खुजली होने लगती है[191] और कम मात्रा में पसीना आने से रोमकूपों में रुकावट, त्वचा में रुखापन और त्वचा का फटना, स्पर्श का ठीक ज्ञान न होना, एवं रोम गिरना-ये लक्षण दिखाई देते हैं।[192] मालिश, व्यायाम, वायु से रहित स्थान में निवास, स्वेदन या उष्ण द्रव्यों से सेक, मधु और स्वेदज द्रव्यों (जल, आदि) के सेवन से स्वेद की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है।[193]

---

188. मूत्रक्षये बस्तितोदो ल्पमूत्रता च।। — सु.सू. 15/15
मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति।। — च.सू. 17/71

189. अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः।। — सु.सू. 15/15
मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारूणी मण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्।। — च.शा. 6/11

190. मलः स्वेदस्तु मेदसः। — च.चि. 15/18
स्वेदवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च।। — च.वि. 5/8

191. स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च।। — सु.सू. 15/20

192. स्वेदक्षये स्तब्ध रोमकूपता त्वक्शोषः स्वर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च।
तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च।। — सु.सू. 15/15
स्पर्शवैगुण्यमिति स्वेदक्षये वृद्दवातेनज्ञेयम्।
स्तब्धरोमकूपता स्वेदक्षयेण तेषां शुष्कत्वात्।। — चक्रपाणि
स्वेदे रोमच्युतिः, स्तब्धरोमता, स्फुटनं त्वचः। — अ.सं.सू. 11/12

193. व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा।। — च.वि. 5/22

स्पष्ट है कि व्यर्थ होते हुए भी ये मल-पदार्थ किसी न किसी रूप में शरीर को धारण करते है।

♦ अन्य मल–पदार्थ

इसी प्रकार, नाक, मुख, आँख, आदि अंगों में उत्पन्न मल-पदार्थो की स्थिति है। ये सब भी इतने प्रमाण में होने चाहिए, जिससे इन अंगों में आर्द्रता बनी रहे। यदि इनकी मात्रा में अधिक वृद्धि हो जाती है, तो इन अंगों से इनका स्राव अधिक मात्रा में होने लगता है तथा उस-उस अंग में भारीपन आ जाता है। इसके विपरीत, मात्रा में कमी होने से इन अंगों में शुष्कता (सूखापन), दर्द, खालीपन तथा हल्कापन महसूस होने लगता है। तथ्य यह है कि इन मलों के एकत्र होने से इनकी मात्रा में अधिक वृद्धि होने लगती है, जबकि अधिक विसर्जन से इनका क्षय होने लगता है। यद्यपि इन मलों की अतिवृद्धि और क्षय होना-ये दोनों ही अवस्थाएँ हानिकारक है, तथापि वृद्धि की अपेक्षा इनका क्षय अधिक हानिकारक है क्योंकि मात्रा में कमी होने से ये शरीर को धारण करने का कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते। वैसे तो मल-मूत्र, आदि मल-पदार्थो में स्वभावतः ही दुर्गन्ध पाई जाती है, परन्तु यह दुर्गन्ध यदि असह्य हो, तो समझना चाहिए कि कोई न कोई रोग है, जिसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

♦ दोष, धातु और मलों का परस्पर सम्बन्ध

चूंकि दोष, धातु और मल-ये तीनों ही तत्व शरीर के निर्माण और धारण का कार्य किसी न किसी रूप में करते है[194] अतः इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी अवश्य है। दोषों और धातुओं का परस्पर आश्रय और आश्रयी का सम्बन्ध है। जैसे- वायु (दोष) का आश्रय स्थान अस्थि धातु है, पित्त दोष का रक्त धातु और स्वेद, तथा कफ का आश्रय अन्य धातुएँ हैं। अतः दोषों की वृद्धि और क्षय के लिए जो चिकित्सा की जाती है, उसका समान प्रभाव उसकी आश्रय धातु पर भी पड़ता है। सामान्यतः दोषों और धातुओं की वृद्धि होने पर लंघन या अपतर्पण चिकित्सा एवं क्षय होने पर वृंहण या तर्पण चिकित्सा की जाती है, परन्तु वायु दोष और उसके आश्रय स्थान अस्थि धातु पर यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि वायु की वृद्धि होने पर वृंहण चिकित्सा एवं क्षय होने पर लंघन चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

---

194. दोष धातु मलमूलं हि शरीरम्।। — सु.सू. 15/3
दोष धातु मला मूलं सदा देहस्य।। — अ.ह.सू. 11/1
वृक्षस्य स्कन्धशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं।
तदारब्धत्वात्, तथा देहस्य दोष धातुमलाः।। — अरूणदत
त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च।
देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः।। — सु.उ. 66/6-7
दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीरसंबद्धं शरीरे दश्यते।
त एवं संयुक्तादेह इति यावत्।। — अ.स.सू. 16 मे इन्दु

11. पाचन एवं चयापचय क्रिया (Digestion & Metabolism)

हम भोजन या अन्य पदार्थों के रूप में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट्स, वसा विटामिन, आदि जिन तत्वों का सेवन करते है, उनसे ही शरीर में धातुओं की पुष्टि, बल, वर्ण, दीर्घायु, बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है परन्तु ये बल आदि शरीर को तभी प्राप्त हो सकते है, जब ये सभी बाहरी तत्व शरीर के तत्वों के रूप में परिवर्तित हो जाएं। भोजन को शरीर के अनुरूप ढालने की क्रिया को जो तत्व सम्पन्न करता है, उसे ही 'अग्नि' नाम से जाना जाता है और यह सम्पूर्ण क्रिया पाचन और चयापचय (Metabolic Process) कहलाती है।[195] ये अग्नियाँ इस पाचन-क्रिया को करने के लिए आमाशय, यकृत तथा धातु कोषों में अनेक प्रकार के पाचक-रसों को उत्पन्न करती हैं। इन्हीं रसों की सहायता से सभी प्रकार के (ठोस द्रव, आधे ठोस द्रव, चाटने योग्य द्रव) पदार्थ धातुओं, मलों आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। वैसे तो भोजन का पाचन होने पर सारे अंगों को पोषण पहुँचाने में व्यान वायु और भोजन रस को वहन करने वाले स्रोतों का भी हाथ है, परन्तु अग्नि (जाठराग्नि) का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि अग्नि न हो, तो न भोजन का पाक होगा और न उससे रस आदि धातुओं की उत्पत्ति ही होगी। अग्नि नष्ट हो जाए, तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। अग्नि के विकृत होने पर मनुष्य रोगी हो जाता है, और अग्नि सम होने पर मनुष्य निरोग रहकर दीर्घायु प्राप्त करता है।[196]

अग्नि के प्रकार

अग्नि अनेक प्रकार की अग्नियों का समूह है। इसमें तेरह प्रकार की अग्नियाँ सम्मिलित है-

1) एक जाठराग्नि

2-8) सात धात्वग्नियाँ और

9-13) पाँच भूताग्नियाँ।[197]

---

195. बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।। — च.सू. 27/342
अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यर्धानाः। प्राणारिति वायवः।
यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः।। — च.चि. 15/5

196. रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ।। — अ.हृ.नि. 12/1
समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्।। — च.चि. 5/136

197. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।। — च.चि. 15/13
यथास्वेनोष्मणा पकां शरीरा यान्ति धातवः।
स्त्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुण्यति धातुतः।। — चरक

♦ जाठराग्नि

यह संख्या में एक है। ऊपर जिस अग्नि का महत्व बताया गया है, वह यही अग्नि है। इसे पाचक-अग्नि या कायाग्नि भी कहा जाता है। यह आमाशय और पक्वाशय (छोटी आँत और बड़ी आँत) के बीच नाभि प्रदेश में रहती है।[198] जिस प्रकार, सूर्य अपनी किरणों की सहायता से कुँओं, तालाबों, नदियों आदि से जल सोखता है, उसी प्रकार नाभि प्रदेश में स्थित यह अग्नि भी अपनी किरणों की सहायता से शीघ्र ही भोजन का पाक करती है। हम जितने भी पदार्थ खाते हैं, उन्हें शरीर के अनुरूप बनाने के लिए यह अग्नि उसे तोड़ कर सूक्ष्म खण्डों में बदल देती है।

इसी प्रकार जाठराग्नि पाक क्रिया द्वारा भोजन में आरम्भिक परिवर्तन करती है और आयु, वर्ण, स्वर, बल, ऊर्जा, शारीरिक वृद्धि, उत्साह, ओजस्, शारीरिक ताप और अन्य अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने में सहायता करती है।[199] इन सब कार्यो में सहायक बनने के लिए अग्नि का सम अवस्था में रहना आवश्यक है। जाठराग्नि की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हो सकती है:

I. विषमाग्नि

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की अग्नि कभी बहुत तेज हो जाती है, कभी मन्द (धीमी) और कभी सम। इससे भोजन का पाचन कभी तो सामान्य रूप से ठीक प्रकार हो जाता है, तो कभी बहुत धीरे और कभी बहुत शीघ्र। अग्नि की यह स्थिति वायु दोष की अधिकता से होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट में अफारा, शूल (तेज़ दर्द), उदावर्त (वायु की ऊपर की ओर गति), क़ब्ज़, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट की आवाज़, अतिसार तथा पेचिश जैसे विकार उत्पन्न हो सकते है।[200]

---

198. तत्र, पक्वामाशयमध्यगम्
तत्रस्थमेव पित्तांना शेषाणामप्यनुग्रहम्।।
करोति बलदानेन 'पाचकं' नाम तत्स्मृतम्।। — **अ.हृ.सू.-12/10-12**
यस्तंः चिकित्सेत् सीदन्तं सैव कायचिकित्सकः इति।
युक्तं चैतत्, यतो ज्वरातिसारादयः
कायचिकित्साविषया रोगा अग्निदोष देव भवन्ति।। — **च.सू. 30/28 शिवदाससेन**

199. आयुर्बल स्थितिरिति अन्नपाचकाग्नि स्थितौ
आयुर्बलस्थित्या अत्येऽप्यातिप्रेया वर्णादयो लक्षणीयाः।। — **चक्रपाणि**
अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा।। — **च.सू. 27/342**

200. विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः।। — **च.चि. 15/50**
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।। — **च.चि. 15/51**

II. तीक्ष्णाग्नि

इस प्रकार की अग्नि बहुत तेज़ होती है, जो अधिक मात्रा में खाये भोजन का पाचन बहुत कम समय में ही कर देती है। व्यक्ति जो कुछ भी खाता जाता है, शीघ्र हज़म होता जाता है। अतः वह 'पेटू' (बहुत अधिक खाने वाला) हो जाता है। इस अवस्था को 'अत्यग्नि' या 'भस्मक' के नाम से भी जाना जाता है। जाठराग्नि की इस अवस्था में पित्त दोष की अधिकता होती है। रोगी के गले, होठों तथा तालु में शुष्कता (सूखापन) उत्पन्न हो जाती है। भोजन के पाचन के बाद यह अग्नि गले में शोष और दाह, होंठों में शोष (सूखापन) और दाह, तालु में जलन और सन्ताप (गर्मी और जलन की अनुभूति) को उत्पन्न करती है।

III. मन्दाग्नि

इस अवस्था में अग्नि बहुत मन्द (धीमी) होती है, अतः कम मात्रा में खाये गये सामान्य भोजन को भी ठीक प्रकार से पचा नहीं पाती। इस तरह की जाठराग्नि कफ दोष की अधिकता के कारण होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट और सिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, मुँह से लार बहना, उल्टी आना, शरीर में कमज़ोरी आदि विकार उत्पन्न होते हैं।[201]

IV. समाग्नि

इस प्रकार की जाठराग्नि समय पर और उचित मात्रा में ग्रहण किये गए सारे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से कर देती है। चूँकि इस अवस्था में जाठराग्नि में वायु, पित्त और कफ -तीनों दोष अपनी सम अवस्था में होते हैं, अतः यह अग्नि समाग्नि कहलाती है। इस समय भोजन के पाचन में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं होती।[202]

♦ भूताग्नियाँ

अग्नियों का यह समूह यकृत में रहता है। पाँच महाभूतों के आधार पर, ये अग्नियाँ भी पाँच है-1) भौमाग्नि, 2) आप्याग्नि, 3) आग्नेयाग्नि, 4) वायव्याग्नि, और 5) आकाशाग्नि।[203] ये

---

201. अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः।
उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते।। — च.चि. 15/52

मन्दास्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः।। — मा.नि. 6/1

202. समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्ने विषमाग्नेस्तु देहिनः।। — मा.नि. 6/3

मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्, समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते।। — मा.नि. 6/4

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्।। — च.नि. 6/11

203. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। — च.चि. 15/13

अत्र च यान्यान्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यवरूढानि भूताग्निष्वेव। किंवा, अप्रधान्यादकिंचित्कराणि नोक्तानि। — चरक

अग्नियाँ जाठराग्नि द्वारा खण्ड-खण्ड किये गये खाद्य-पदार्थो को शरीर के अनुरूप सजातीय रस में परिवर्तित करती है। इनमें से प्रत्येक अग्नि खाद्य-रस में पाये जाने वाले भूमि, जल आदि महाभूतों में से अपने-अपने महाभूत का पाचन करती है और शरीर के अनुरूप महाभूतों में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार, यकृत में विद्यमान अग्नियों की सहायता से भोजन पाँच श्रेणियों में बँट जाता है और शरीर के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले अपने-अपने महाभूत में मिल कर उस पोषण करता है।

♦ धात्वग्नियाँ

अग्नियों का यह तीसरे प्रकार का समूह है। जाठराग्नि और भूताग्नियों की सहायता से पाँच भूतों के रूप में परिवर्तित हुआ अन्नरस जब धात्वाशयों (रसवह, रक्तवह, आदि स्रोतों) में पहुँचता है, तो वहाँ विद्यमान अग्नियाँ इसका पुनः पाचन करती हैं। इससे यह अन्न-रस रस, रक्त आदि धातुओं में बदल जाता है। चूँकि धातुएँ संख्या में सात हैं, अतः इनकी अग्नियाँ भी सात हैं- 1) रसाग्नि, 2) रक्ताग्नि, 3) मांसाग्नि, 4) मेदोग्नि, 5) अस्थि अग्नि, 6) मज्जाग्नि, और 7) शुक्राग्नि (मनुष्यों में)[204] पाचन क्रिया करती है, तो इसके परिणामस्वरूप धातुओं के पोषण के साथ-साथ कुछ मल-पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं। धात्वग्नि मन्द होने से धातु की वृद्धि और तीव्र होने से धातु का क्षय होता है।

इस प्रकार, उपरोक्त तीनों प्रकार की अग्नियों से भोजन के पाचन की प्रक्रिया को संक्षेप में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

जब भोजन मुँह में पहुँचता है, तो जिह्वा और कण्ठ में स्थित लाला स्राव इसमें मिल जाता है, जिससे भोजन के स्वाद का ज्ञान होता है। यहाँ से भोजन आमाशय में पहुँचता है, जहाँ उसमें आमाशयिक (तरल और स्निग्ध) रस मिलने से ठोस भोजन तरल, झाग वाला, मुलायम और स्निग्ध बन जाता है। पाचन की इस प्रथम अवस्था में झागयुक्त कफ और मधुर रस उत्पन्न होते हैं।[205]

इस समय आमाशय में भोजन का पाचन ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी के साथ चावल पकाये जाते हैं।

इसके बाद, यह अधपका आहार-रस ग्रहणी (छोटी आँत का ऊपर वाला भाग) से होता हुआ पक्वाशय में पहुँचता है, जाठराग्नि समानवायु और पाचक पित्त के साथ अपना कार्य करती

---

204. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्।। — च.चि. 15/15

205. अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् — च.चि. 15/6
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत् उदीर्यते।। — च.चि. 15/9
माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः।। — सु.सू. 21/13

है।[206] पाचक पित्त आहार रस के जलीय अंश को पूरी तरह सोख लेता है। इससे आहार रस ठोस रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसे 'पिण्ड' कहते है। इस अवस्था में कटु रस और वायु की उत्पत्ति होती है।[207] यहाँ भोजन दो भागों में विभक्त होता है- 1) सार या प्रसाद भाग, और 2) असार या किट्ट भाग। भोजन का जो भाग ठीक प्रकार से पच जाता है और तरल रूप में होता है, वही सार भाग कहलाता है। यही सार भाग शरीर की पहली धातु 'रस' भी है, जो जाठराग्नि के कारण मधुर और स्निग्ध हो जाता है। यही रस धातु अगली धातुओं का पोषण करता है। यदि जाठराग्नि मन्द है, तो उपरोक्त खाद्यरस का पाक ठीक प्रकार से नहीं होगा और यह रस मधुर न होकर कटु और अम्ल (खट्टा) होगा। यही 'आमरस' या 'आम' कहलाता है,[208] जो विषैला और रोगकारक होता है। भोजन का दूसरा भाग जो ठीक प्रकार नहीं पचता किट्ट या असार कहलाता है। इसमें से ठोस भाग पुरीष के रूप में तथा द्रव भाग मूत्र के रूप में परिवर्तित होकर मल के रूप में पक्वाशय के निचले भाग में एकत्र हो जाते है। इस स्थिति में पाँच भूताग्नियों की प्रक्रिया आरम्भ होती है। ये खाद्य-रस में विद्यमान अपने-अपने महाभूत पर प्रतिक्रिया करके उन्हें शरीर के सजातीय तत्वों में परिवर्तित कर देती है। इससे शरीर के विभिन्न अंगों में स्थित पृथ्वी महाभूत का पोषण होता है। अब यह आहार-रस रसधातु के रूप में रसवह स्रोतों के माध्यम से सारे शरीर में भ्रमण करता है। इस प्रकार, यह पोषक द्रव के रूप में सभी अंगों में पहुँचता है, जिसमें सातों धातुओं के पोषक तत्व मूलरूप में विद्यमान रहते है।

धात्वग्नियों की पाकक्रिया के फलस्वरूप, प्रत्येक धातु के साथ एक विशेष सार अंश की भी उत्पत्ति होती है, जिसे 'ओजस' कहा जाता है। इसका संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। भोजन की इस सम्पूर्ण पाचन-क्रिया में पित्त का विशेष महत्व है। यही कारण है कि बहुत से आयुर्वेदिक विद्वान, पित्त और अग्नि को एक ही तत्व मानते हैं। वैसे सातों धात्वग्नियों में पाचक-पित्त के अंश ही क्रियात्मक रूप में होते हैं, जो धात्वग्नियों को उनके कार्यो में मदद करते हैं। अग्नि में पित्त के अतिरिक्त अन्य गुण भी पाये जाते है, जिससे भोजन के पाचन की पूरी प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

इस खाद्य-रस पर सातों धात्वग्नियों की प्रतिक्रिया होती है, जिससे सात अलग-अलग धातुओं का निर्माण होता हैं। इन धातुओं के मूल रूप में तीन भाग माने गये हैं-

---

206. अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा।। — सु.शा. 4/19
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।। — च.चि. 15/10

207. पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य बह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः।। — च.चि. 15/11

208. सोऽन्नजो रस इति आमः।
अन्नरसव्यैवापकवल्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात् — मधुकोष व्याख्या

1) स्थूल, 2) सूक्ष्म या अणु, और 3) मल। इनमें से स्थूल भाग उसी धातु का पोषण करता है, सूक्ष्म भाग अपने से अगली धातु का निर्माण करता है, तथा उससे उत्पन्न मल पदार्थ उसी मल-पदार्थ का पोषण करता है। इस प्रकार, प्रत्येक धात्वग्नि की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप किसी न किसी मल-पदार्थ या उपोत्पाद का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, खाद्यरस का सार भाग, जो रस धातु है, उस पर जब रस धात्वग्नि प्रतिक्रिया करती है, तो स्थूल भाग रस धातु का पोषण करता है, सूक्ष्मभाग रक्तधातु का निर्माण करता है, और मल भाग कफ (बलगम, थूक, आदि) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार अन्य धात्वग्नियों की प्रतिक्रिया से भी यही प्रक्रिया चलती है, जो निम्न प्रकार से है:

धात्वग्नि[209]	पोषण (स्थूल भाग द्वारा)	निर्माण (सूक्ष्म भाग द्वारा)	मल-पदार्थ
1. रस	रस धातु	रक्त धातु	कफ (बलगम, थूक)
2. रक्त	रक्त धातु	मांस धातु	पित्त (मल में मिल जाता है)
3. मांस	मांस धातु	मेद धातु	सभी अन्य मल
4. मेद	मेद या स्नेह धातु	अस्थि धातु	पसीना, स्वेद
5. अस्थि	अस्थियाँ व कोमलास्थियाँ	मज्जा	बाल और नाखून
6. मज्जा	मज्जा धातु	शुक्र	आँखों की चमक तथा त्वचा में पाये जाने वाले स्निग्ध पदार्थ
7. शुक्र	शुक्र, शुक्राणु अथवा रज		

---

209. रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः।। — च.चि. 15/16

रसात्स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः।। — च.चि. 15/17

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।। — अ.हृ.

स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वः स्थूलोऽशः परः सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः।। — सु.सू. 14/10 (डल्हण)

स्वाग्निभिः पच्यमनेषु मलः षटसु रसादीषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः।।

♦ आम रस

जाठराग्नि या धात्वग्नियों में से किसी भी अग्नि के मन्द होने से जब आमाशय और ग्रहणी में स्थित अन्नरस पूरी तरह से पचता नहीं है, तो यह अपक्व रस आम या आमरस कहलाता है। यह आम रस विषाक्त होने से शरीर में अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है[210] क्योंकि जब तक अन्नरस अपक्व या आमरस के रूप में रहता है, तब तक वह शरीर के सजातीय तत्वों के रूप में नही बदल पाता। अतः शरीर के धातु आदि तत्वों में मिल नहीं पाता। यह स्रोतों में ठीक प्रकार से गति न कर पाने के कारण शरीर के विभिन्न अंगों, जैसे-फुफ्फुस, हृदय या किसी अन्य आशय में इकट्ठा हो जाता है। प्रायः यह शरीर की चार बड़ी गुहाओं (मस्तिष्क, छाती, उदर या बस्ति) से जुड़े अंगों में, विशेष रूप से उदर गुहा के किसी अंग में इकट्ठा हो जाता है। वहाँ अजीर्ण आदि विभिन्न विकार पैदा कर देता है। यह अन्य दोषों के साथ मिल कर किसी दूसरे अंग में पहुँच कर वहाँ तत्काल रोग की उत्पत्ति करता है, जैसे-तमकश्वास। धात्वग्नियों की दुर्बलता से जब आम (अपक्व) रस धातु उत्पन्न होती है, तो उससे अगली धातुओं का पोषण नहीं होता। इस प्रकार, अनेक रोग उत्पन्न होते है। चूंकि प्रायः रोग किसी न किसी रूप में आम दोष से ही उत्पन्न होते हैं, अतः रोग का एक नाम 'आमय' भी है। इस आम दोष का कुप्रभाव अग्नि पर पड़ता है, जिससे पुनः भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नही हो पाता और अपक्व अन्न रस स्रोतों में रुकावट पैदा कर देता है। यह आम दोष शरीर के किसी भी भाग में पैदा हो सकता है। जो अंग कमजोर होता है या जो महाभौतिक संरचना में आम के जैसा होता है वहाँ आम दोष के संचय होने की अधिक सम्भावना होती है।

♦ साम रोगों या दोषों के लक्षण

स्वेद, मूत्र आदि के स्रोतों में रुकावट, बल की कमी, शरीर में भारीपन, वायु का ठीक रूप से संचार न होना, आलस्य, अधिक थूक या बलगम आना, पुरीष आदि मलों का विसर्जन कम मात्रा में या बिल्कुल विसर्जन न होना, अरुचि, थकान आदि लक्षण साम रोगों या दोषों के लक्षण हैं। इसके विपरीत लक्षण स्रोतों की शुद्धि-आदि निराम रोगों या दोषों के है।[211]

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है पाचन-शक्ति की कमी के कारण ही आम दोष

---

210. आमाशयस्थः कायाग्नेदौर्बल्यादविपाचिन्तः
आद्य आहार धातुर्यः स आम इति कीर्तितः।। — मधुकोष
आमसन्नवरसं केचित् केचितु मलसञ्चयम्।
प्रथमां दोषदृष्टिं च के चिदामं प्रक्षयते।। — मधुकोष
अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुविच्छिलम्।
सदनं सर्वगात्राणामाम् इत्यभिधीयते।। — मधुकोष

211. वायुरामान्वयः सर्तिराध्मानकृदसञ्चरः।। — चरक
आविलस्तन्तुमांस्त्यानः प्रतोपी पिच्छिलः कफ।। — चरक
उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाहामपाचितम्।। — चरक
दुष्टमामाश्यगंत रसमांम प्रचक्षते।
अन्ये दोषेभ्य एव। तिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात्।। — चरक

की उत्पत्ति भी होती है। जिस स्रोत में आम या मल-पदार्थ एकत्र होने से रुकावट पैदा हुई है, यदि उस स्रोत के पाचक-रस या अग्नि को अधिक सक्रिय कर दिया जाए, तो इन आम, आदि पदार्थों को भी धातुओं में परिवर्तित किया जा सकता है अथवा मल-पदार्थों का निकास हो सकता है। आयुर्वेद की प्रायः सभी औषधियों में इस प्रकार के द्रव्य मिलाये जाते है जिनसे विभिन्न स्तरों पर इन पाचक-अग्नियों को तीव्र किया जाता है। वमन, विरेचन, आदि संशोधन क्रियाएं भी स्रोतों के अन्दर एकत्र हुए आम, मल-पदार्थो आदि को बाहर निकाल कर उन्हें स्वच्छ करती है। इससे अग्नियाँ ठीक प्रकार से कार्य करने लगती है।[212]

वैसे छोटी आयु में अग्नि मन्द (धीमी) होती है और ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, अग्नि भी तीव्र होती जाती है। फलस्वरूप पाचन एवं चयापचय क्रियाएँ भी अच्छी प्रकार से होती रहती हैं, जिससे शरीर के आकार और शक्ति में भी वृद्धि होती है। साधारणतः 40 वर्ष की आयु तक अग्नि बढ़ती रहती है। 40-60 वर्ष तक इसी स्थिति में रहती है। 60 वर्ष के पश्चात् अग्नि की शक्ति में कमी आने लगती है, जिससे शरीर को पूरे पोषक तत्व प्राप्त नहीं हो पाते। परिणामतः धातुओं की संख्या, आकार और गुणों में कमी आने लगती है। शरीर कमजोर होने लगता है और मल-पदार्थो का निर्माण भी अधिक मात्रा में होता है। व्यक्ति मानसिक रूप से भी निर्बलता अनुभव करता है। इसे ही जरावस्था या वृद्धावस्था कहा जाता है। रसायन चिकित्सा द्वारा यही प्रयत्न किया जाता है कि पाचक-अग्नियों और रसों में क्रियाशीलता बनी रहे और वृद्धावस्था में होने वाले रोगों से बचा जा सके।[213]

12. स्रोत

अब तक के वर्णन में अनेक बार 'स्रोत' शब्द का उल्लेख हुआ है तथा ज्ञात हुआ है कि स्वास्थ्य को बनाये रखने में इन स्रोतों का स्वस्थ या स्वच्छ होना अत्यावश्यक है। दोषों, मलों और धातुओं के समान ये भी शरीर का महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रश्न यह होता है कि स्रोत क्या है? तथा इनका क्या कार्य है? इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

वे अवयव जो आकाश महाभूत की प्रधानता वाले अर्थात् अन्दर से अवकाश युक्त (खाली या खोखले) तथा धातुओं (रस, रक्त, आदि) मलों, अन्न, जल, शब्द रूप आदि विषयों और मन आदि का स्रवण व वहन (धारण) करते हैं, स्रोत कहलाते हैं। ये अवयव धातुओं आदि को धारण

---

212. पाचनै दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्
सर्वदेहप्रविजृतान् सामान् दोषान् निर्हरेत्।। — चरक

लीनान् धातुष्वनुत्किलष्टान् फलादामाद्रसानिव।
आश्रमस्य हि नाशय ते स्युर्दुनिर्हरत्वत।। — चरक

213. "यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्" — शार्ंगधर

करके शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते है। चूंकि ये विभिन्न तत्वों का स्रवण करते है, अतः इन्हें 'स्रोत' कहा जाता है।[214]

अन्दर से खोखले या पोले ये अवयव विभिन्न आकारों के होते है। जैसे-कुछ वृत्ताकार (नलिका की-सी आकृति वाले) कुछ, चौड़े पतले, लम्बे तथा कुछ लताओं के समान शाखाओं और प्रशाखाओं वाले होते है। ये स्रोत दृश्य (दिखाई देने वाले) या अदृश्य (न दिखाई देने वाले), दोनो प्रकार के हो सकते है। ये जिस द्रव्य को धारण करते है, उसी के समान रंग वाले हो जाते है।

♦ स्रोतों के कार्य

अपनी-अपनी भौतिक रचना के अनुसार, ये स्रोत आहार, रस, रक्त आदि धातुओं, तीनों दोषों, मल-पदार्थो, प्राण आदि का वहन करते हैं। इनके प्रमुख कार्य निम्नलिखित है:[215]

1) जठरान्त्र-प्रणाली (आमाशय-gastro-intestine) में भोजन (खाद्य-रस) से निर्मित रस, रक्त आदि पदार्थो को ग्रहण करके उन्हें अपने-अपने धातुओं तक पहुँचाना अर्थात धातुओं का पोषण करना।
2) पुरीष, मूत्र, स्वेद, आदि मलों को वहन कर उन्हें अपने-अपने छिद्रों तक पहुँचाते है, जिससे वे शरीर से बाहर निकलते है और शरीर को निरोग रखते है।
3) प्राणों को धारण कर जीवन को स्थिर करते है।
4) शरीर में किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति (वृद्धि-पुष्टि) या क्षय स्रोतों के बिना नहीं हो सकती।
5) शरीर के विभिन्न वेगों (मल, मूत्र, आदि के), मन व चेष्टाओं के वेगों को धारण करते है

अतः शरीर की क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक है।

♦ स्रोत और रोग की उत्पत्ति

स्पष्टतः स्रोत बहुत महत्वपूर्ण कार्य करने में सहायक है। स्वस्थ रहने के लिए दोषों और धातुओं के समान इन स्रोतों का भी अपनी प्राकृत (स्वस्थ) अवस्था में रहना बहुत आवश्यक है

---

214. आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्त्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाडय आशयाः।। — सु.शा. 9/3 पर डल्हण

स्त्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां।
धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।। — च.वि. 5/3

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्त्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्।। — सु.शा. 9/13

स्त्रवणात् स्त्रोतांसि।। — च.सू. 30/12

मूलात् खादिति हदृयादिच्छिद्रात्। प्रसृतम,
अभिवहनशीलं, वदन्तरम् अवकाशः,
तत् स्त्रोतो विज्ञेयम्।। — डल्हण

215. सर्वे हि भावाः पुरूषे नान्तरेण स्त्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाडप्यभिगच्छन्ति।। — च.वि. 5/3
तदेतत् स्त्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्।। — च.वि. 5/6
स्त्रोतसा च यथास्वेन धातुः
पुष्यति धातुतः।। — च.चि. 8/39

अन्यथा, जब कोई एक भी स्रोत दूषित होता है, तो वह अपने समीप वाले दूसरे स्रोतों को भी दूषित करने लगता है। परिणामतः उस स्रोत से सम्बन्धित रोग भी उत्पन्न होने लगते हैं। जब स्रोत अदूषित या स्वस्थ अवस्था में होते हैं, तो उनमें दोष, धातुओं, उपधातुओं और मलों का संचार और विसर्जन (बाहर निकलना) ठीक प्रकार से होता रहता है[216] जबकि दूषित होने पर दूष्य (धातु, मल) और दोष दोनों ही दूषित हो जाते हैं और दूषित दोषों आदि के वहन करने से स्रोत फिर अधिक दूषित होने रहते हैं। यदि किसी स्रोत में गति करने वाला पदार्थ (मल, धातु, आदि) वहीं इकट्ठा हो जाता है और उससे उस धातु की चयापचय क्रिया ठीक प्रकार नहीं हो पाती तो इससे आस-पास के धातुओं के संचार में भी रुकावट उत्पन्न हो सकती है। परिणामतः 'आम' दोष उत्पन्न होता है। यह आम दोष दूसरे स्वस्थ स्रोतों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में जाकर रोगों को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, जुकाम होने पर दूषित नासा स्रोत से दोष चल कर कण्ठ के स्रोतों में पहुँच जाता है, जिससे खाँसी उत्पन्न होती है। इन स्रोतों से दोष कान में पहुँच कर कान में पीड़ा, बहरापन, भारीपन, आदि रोगों को, शिर के वाताशयों (साइनस) में जाकर शिरःशूल; प्राणवह स्रोतों (फेफड़ों) में जाकर यक्ष्मा (टी0बी0) को तथा प्राणवह स्रोतों में स्थित दोष महास्रोत में जाकर अतिसार (दस्त), आदि रोग उत्पन्न करते हैं अतः स्रोतों को स्वस्थ रखना आवश्यक है।

♦ स्रोतों की संख्या

हमारे शरीर में छोटे-बड़े असंख्य स्रोत हैं। कुछ स्रोत तो बड़े होते हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से देख सकते हैं, जैसे जठरान्त्र-प्रणाली, धमनियाँ, शिराएं, लसीका, जनन-मूत्र प्रणाली जबकि कुछ स्रोत बहुत सूक्ष्म हैं, जिन्हें अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से ही देखा जा सकता है, जैसे-सूक्ष्म कोशिकाएं।[217]

---

216. तानि दुष्टानि रोगाय विशुद्धानि सुखाय च।। — अ.ह.शा. 3/42

ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्थानस्थान् मार्गस्थोश्च
धातून् प्रकोपयन्ति। तेपि तम् स्त्रोतासि च।
स्त्रोतांसि धातवश्च धातून्
तेषां सर्वेषामेव दूषिसितारो दुष्टा दोषाः।। — अ.सं.शा. 6

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्त्रोतसां स प्रदूषकः।। — च.वि. 5/23

अतिप्रवृतिः संङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्त्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।। — च.वि. 5/24

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संङ्ग खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।। — सु.सू. 24/19

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृति तत्र खे वर्षमिव तोयदः।। — च.चि. 15/37

प्रतिरोगमिति कुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते।। — अ.ह.नि. 1/23

क्र. सं.	स्रोत का नाम व कार्य	नियन्त्रक अंग	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
1.	प्राणवह स्रोत (जीवन शक्ति व प्राण का वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व भोजन प्रणाली	क्षय, स्वाभाविक वेगों को दबाना, रूखे भोजन का अधिक सेवन, भूखे पेट व्यायाम।	रुकावट के साथ उथले रूप में व तेज़ गति से श्वसन क्रिया का होना। दमा रोग इसी से सम्बद्ध है।	श्वसन-सम्बन्धी रोगों (जैसे-दमा आदि) के समान चिकित्सा।
2.	उदकवह स्रोत (जल व द्रव तालू, क्लोम पदार्थों को वहन करने वाले स्रोत)	तालू, क्लोम	अधिक गर्मी व लू लगना, अपच, शराब का अधिक सेवन अत्यन्त रूक्ष भोजन का सेवन, अधिक प्यासा रहना।	तालू ओष्ठ, जिह्वा व कण्ठ का सूखना।	तृष्णा या अधिक प्यास की चिकित्सा
3.	अन्नवह स्रोत (मुख से ग्रहण किये गये अन्न को वहन करने वाले स्रोत)	आमाशय, बाँया भाग	असमय में व अधिक मात्रा में भोजन करना, अपथ्य आहार का सेवन, मन्दाग्नि।	भूख का नष्ट होना, (अरुचि) अपच, उल्टी	आमदोष या अपच आदि के लिए बताई गई चिकित्सा
4.	रसवह स्रोत (आहार रस, लसीका आदि वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व हृदय से सम्बन्धित दस वाहिनियाँ	चिन्ता एवं अत्यन्त भारी, शीत व अधिक स्निग्ध भोजन का सेवन।	अरुचि, जी मिचलाना भारीपन, तन्द्रा, बेहोशी, रक्ताल्पता, नपुंसकता।	लंघन चिकित्सा या उपवास आदि
5.	रक्तवह स्रोत (रक्त को विशेषत : हीमोग्लोबिन अंश का वहन करने वाले स्रोत)	यकृत, प्लीहा	तीखे, उष्ण व स्निग्ध भोजन का सेवन, धूप व आग का अधिक सेवन।	चमड़ी के भयानक रोग रक्त स्राव, व्रण, गुदा एवं जननांगों में सूजन	रक्त-मोक्षण (शरीर के रोग वाले भाग से रक्त निकलवाना)
6.	मांसवह स्रोत (मांस तन्तुओं के तत्वों को ले जाने वाले स्रोत)	कण्डराएँ त्वचा, अस्थिबन्ध के तन्तु (स्नायु)	भोजन के तुरन्त बाद सोना, बार-बार अधिक मात्रा में तथा गुरु व ठोस भोजन का सेवन।	अर्बुद, मांसार्बुद, अर्श, तालूशोथ, गलगण्ड, तुण्डिकेरी अन्य अर्बुद आदि (जिनमें कैंसर का अर्बुद भी हो सकता है।)	शल्य चिकित्सा, (चीर-फाड़ आदि) क्षार-कर्म तथा दहन क्रिया (जलाने की क्रिया)

217. प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति:,
वातपित्तश्लेष्मणां पुन: सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्त्रोतांस्ययनभूतानि — च.वि. 5/6
तद्वदतीन्द्रियाणां पुन: सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च।
तथाऽपराण्यन्त: स्त्रोतांसि जीविताथतनानि त्रयोदश — अ.सं.शा. 6
प्राणोऽभान्नधातुमलानामायतनानि।।

क्र. सं.	स्रोत का नाम व कार्य	नियन्त्रक अंग	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
7.	मेदोवह स्रोत (वसा तत्वों को वहन करने वाले स्रोत)	गुर्दे उदरगत मेद (चर्बी)	दिन में सोना, व्यायाम न करना, अधिक स्निग्ध भोजन व मदिरा का सेवन।	मूत्र-सम्बन्धी कष्टकर रोग, मधुमेह आदि।	अपतर्पण या दुर्बल करने वाली चिकित्सा
8.	अस्थिवह स्रोत (अस्थि के पोषक तत्वों का वहन करने वाले स्रोत)	कटि अस्थि, ऊतक, नितम्ब	अधिक व्यायाम, अस्थियों का आपस में रगड़ खाना, वातिक आहार का सेवन।	नाखूनों व दांतों का टूटना, हड्डियों में पीड़ा, बालों में परिवर्तन (क्योंकि बाल, अस्थि का (उत्पाद) या मल है)।	पञ्चकर्म विशेषरूप से तिक्त औषधियों से पकाये गये घी और दूध की वस्ति (एनिमा) देना
9.	मज्जावह स्रोत (मज्जा-अस्थियों व सन्धियों सम्बन्धी पौष्टिक तत्वों का वहन करने वाले स्रोत)	अस्थियां व सन्धियां	विरुद्धाहार (जैसे-मछली के साथ दूध, गर्म पदार्थो के साथ शहद) का सेवन, कुचले जाने या दबाव आदि से मज्जा में चोट लगना।	सन्धिशूल (जोड़ों में दर्द) भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिनाश, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना, गम्भीर विद्रधि आदि	मधुर और तिक्त रस वाले पदार्थो का सेवन, सम्भोग, व्यायाम एवं उचित समय और मात्रा में दोषों का विसर्जन कराना।
10.	शुक्रवह स्रोत (शुक्र व रजतथा उनके लिए पोषक तत्व ले जाने वाली वाहिनियाँ)	अण्डकोश व डिम्बाशय	असमय में तथा अप्राकृतिक ढंग से सहवास, सहवास का अधिक या सहवास की इच्छा को दबाना।	नपुंसकत्व, बन्ध्यत्व (बांझपन), गर्भपात विकृत गर्भ।	
11.	मूत्रवह स्रोत (मूत्र को वहन करने वाले स्रोत)	गुर्दे व बस्ति	मूत्र के वेग-काल में भोजन तथा पेय पदार्थो का सेवन व सहवास करना, मूत्र वेग को रोकना (विशेष रूप से क्षय ग्रसित रोगी द्वारा)	मूत्र-त्याग अधिक मात्रा में होना या बिल्कुल न होना, बार-बार मूत्र का होना, मूत्र का गाढ़ा होना।	मूत्रकृच्छ (कठिनता से मूत्रत्याग) के समान चिकित्सा।
12.	पुरीषवह स्रोत (पुरीष का वहन करने वाले स्रोत)	बडी आँत व मलाशय	पुरीष के वेग को रोकना, पहले किये गये भोजन के पचने से पूर्व दोबारा भोजन करना, मन्दाग्नि।	मल का अधिक मात्रा में होना या कम होना तथा कठिन मल का विसर्जन।	अतिसार (दस्त) के समान चिकित्सा
13.	स्वेदवह स्रोत (स्वेद का वहन)	वसा-तन्तु व रामकूप	व्यायाम अधिक करना, क्रोध शोक व भय से ग्रस्त रहना	पसीना अधिक आना या बिल्कुल न आना	ज्वर के समान चिकित्सा